शिक्षा नीति
में
पर्यावरण एवं मूल्यों का महत्व

Importance of Environment & Values in Education System

राष्ट्रीय संगोष्ठी

19-2-94 से 21-2-94

शोध पत्र संकलन

डॉ० जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शिक्षा नीति
में
पर्यावरण एवं मूल्यों का महत्व

Importance of Environment and Values in Education System

शोध पत्र संकलन

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

सीनियर प्रोफेसर, दर्शन विभाग

डीन, प्राच्य विद्या संकाय एवं निदेशक, राष्ट्रीय संगोष्ठी

गुरुकुल पत्रिका विशेषांक

चैत्र–आषाढ़, २०५१ | वर्ष-४६ | संयुक्तांक - अप्रैल-जून १९९४

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सम्पादक मण्डल :

मुद्रक:- किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार फोन : ४२५६७५

विषय सूची

सम्पादकीय

प्राच्य विद्या संकाय के तत्वावधान में १९ फरवरी ९४ से २१ फरवरी ९४ तक 'शिक्षा नीति में पर्यावरण एवं मूल्यों का महत्व' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। गोष्ठी का विषय विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्या थी। यह विषय इतना महत्वपूर्ण है कि यदि विश्व – समाज को जीवित रहना है तो इस पर अधिक से अधिक चिन्तन एवं मनन की आवश्यकता है। आधुनिक युग एक वैज्ञानिक युग है। इस वैज्ञानिक युग में मानव को अनेक सुख एवं सुविधाएं सहज ही उपलब्ध हैं। इन सुविधाओं की परिणति उस बांध के समान है, जिस का निर्माण वहां के लोगों के विकास एवं सुख सुविधा हेतु किया गया था, परन्तु अभियन्ता को निर्माण करते हुये इस का ध्यान नही रहा कि यदि बांध टूट गया तो उसका क्या परिणाम होगा ? परिणामतः उसके टूटने पर लाखों लोगों की मृत्यु हो गई। चारों ओर मृत्यु का ताण्डव नृत्य हो रहा था। देखते-देखते ही सब कुछ नष्ट हो गया। आज विज्ञान के विकास से लगभग यही दृश्य उपस्थित हो सकता है, मानव जाति की विनाश लीला की कहानी दोहराई जा सकती है।

विश्व के अनेक देशों में पर्यावरण की जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है। पर्यावरण की समस्या के साथ-साथ मानवीय मूल्यों का अत्यधिक ह्रास हो गया है। वास्तव में इस समय इन समस्याओं पर केवल सेमीनार ही पर्याप्त नही है, अपितु इन विषयों का अध्ययन शिक्षा नीति में आवश्यक रूप में कराना अपेक्षित है ताकि बचपन से ही प्रत्येक नागरिक, समाज का प्रत्येक सदस्य और समस्त मानव समुदाय जीवन मूल्यों को अपने जीवन में क्रियात्मक रूप में धारण करें और इस विनाश को रोकने में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके। इस प्रकार के चिन्तन की ओर यदि हम सब का ध्यान जायेगा तो वर्तमान युग में व्याप्त मानवीय मूल्यों की समस्या पर्याप्त रूप में दूर की जा सकती है। वैदिक साहित्य में ऐसी सूक्तियों एवं ज्ञान की अनुपम निधि है। यदि बालक प्रारम्भ से ही उसे आवश्यक रूप में अपने जीवन में धारण कर ले, तो विज्ञान आदि विषयों के साथ-साथ बालक के समन्वित व्यक्तित्व का विकास होगा। उदाहरणार्थ—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: ।।

सर्वे भवन्तु सुखिन: ।।

वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

ईशावास्यमिदं सर्वम् ।।

संगच्छध्वं संवदध्वम् ।।

समानी व: आकूति: ।

सा विद्या या विमुक्तये ।

विद्या ददाति विनयम् ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन: ।

इत्यादि अनेक सूत्र हमारे लिये प्रकाश स्तम्भ हैं। सार्वभौमिक जीवन मूल्यो की शिक्षाओं का प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय के स्तर तक आवश्यक विषय के रूप में हमारी शिक्षा नीति मे समावेश होना चाहिये।

इस संगोष्ठी की यह सफलता रही कि वैदिक विद्वानों के साथ-साथ अर्वाचीन शिक्षा पद्धति के विद्वानो ने भी अपने विचार व्यक्त किए। उन्होने अपने शोधपत्रो मे मानव जीवन में नैतिक मूल्यो की आवश्यकता बताते हुए अपनी शिक्षानीति मे उक्त मूल्यों की स्थापना पर बल दिया।

राष्ट्रीय संगोष्ठी की द्वितीय महत्वपूर्ण सफलता यह है कि इस समय सब से अधिक ज्वलन्त समस्या पर्यावरण की मानी जाती है। पर्यावरण की रक्षा करना इस समय सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। इस संगोष्ठी के द्वारा विद्वानो ने प्राचीन साहित्य मे पर्यावरण संरक्षण के विषय को अपने शोध पत्रों मे अधिकाधिक प्रकट किया है। शैक्षिक स्तर के अनुरूप पाठ्यक्रमो मे पर्यावरण शिक्षा का भी समावेश होना चाहिये।

आज समाज मे व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए हम शिक्षकों का सर्वाधिक दायित्व है। सामाजिक विषमताओं में पलकर बड़ा होने वाला युवक विवश होकर अन्धकार पथ पर अग्रसर हो रहा है। ऐसे में ये वैदिक मूल्य उसे सन्मार्ग की ओर

प्रेरित करेंगे। इनकी स्थापना के लिए हमें सतत् जागरूक रहना है और किसी भी स्थिति मे इन मूल्यो के ह्रास को रोकना है। सभी इस प्रकार की गोष्ठियों का महत्व है। यह केवल वाग्विलास नही, कर्तव्य की भूमिका है। शाश्वत सत्य की अवधारणा का क्रियान्वयन है। अत: इस गोष्ठी के द्वारा समाज के जागरूक शिक्षक वर्ग का आह्वान करता हूं कि अपने कार्यक्षेत्र मे निर्भीकतापूर्वक जीवन मूल्यों की स्थापना कर राष्ट्र निर्माण मे योगदान करें।

पर्यावरण–प्रदूषण को दूर करने के लिए भी हमें मानसिकता को तैयार करना है। हमारे प्रदूषित मस्तिष्क मे प्रदूषण – निवारण की बात नही बैठ सकती। अत: अपने मस्तिष्क को प्रदूषित होने से बचाना होगा। वायु, जल, भूमि, ध्वनि एवं विचार प्रदूषण हमारी सभ्यता के लिए खतरा है। यदि अब भी हम नहीं जागे तो हमारा अस्तित्व ही मिट जाएगा. इसलिए प्रदूषण–नियंत्रण के लिए हमें सतत प्रयासशील होना चाहिए।

इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में अनेक विद्वान् प्रतिनिधियों ने अपने-अपने शोधपत्रों का वाचन किया। मै उन सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं। जिन महानुभावों ने इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में किसी भी प्रकार से सहयोग किया है, उन सभी के प्रति मैं विश्वविद्यालय की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं तथा आशा करता हूं कि भविष्य मे इसी प्रकार उनका सहयोग प्राप्त होता रहेगा। शमित्योऽम्!

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

स्वागत भाषणम्

डा० धर्मपाल:
कुलपति: गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वारम्

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम् ।
मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे सं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम् ॥

अमर हुतात्मना स्वामी श्रद्धानन्देन संस्थापितस्य गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य कुलाधिपति पदमलङ्कुर्वाणा: शासनशास्त्रनिष्णाता: प्रो० शेर सिंह महोदया: न्यायमूर्तय: प्रसृतकीर्तय: शारदापीठस्यास्य विश्वविद्यालयस्य परिद्रष्टार: श्रीमन्त: स्वनामधन्या महावीर सिंह महोदया:, बहुविधविद्याविस्तारनिरता वैदिकशोधप्रक्रिया प्रवीणा विश्ववेदविद्याप्रतिष्ठानस्याध्यक्षपदे राजमाना: श्रीमन्त: डा० किरीट जोशी महोदया: सार्वदेशिकार्यप्रतिनिधि सभाया महामन्त्रिण: श्री सच्चिदानन्द शास्त्रिण:, भारतवर्षस्य विभिन्नेभ्यो विश्वविद्यालयेभ्य: समवेता विद्वांसश्चाद्याहं "शिक्षापद्धतौ पर्यावरण जीवन-मूल्ययोर्महत्त्वम्" इत्यस्मिन् विषये समायोज्यमानां राष्ट्रीय विद्वद्गोष्ठीं सफलीकर्तुं म-भ्यागतानां समेषां प्रसन्नेन चेतसा हृदयसरोवरोत्फुल्लश्रद्धाभावकुमुदवनमालया श्रद्धया स्वागतं व्याहरन् नूनमपरिमितमानन्दमनुभवामि ।

वर्तमाने काले पर्यावरण समस्यया जीवन मूल्य समस्यया च सर्व विश्वमभिव्याप्तं वर्तते । सम्प्रति प्रायश: सैव शिक्षापद्धति: प्रसरति या पर्यावरणजीवनमूल्ययोर्महत्व-प्रतिपादने समुद्भूतसमस्यासमाधाने च न क्षमते । स्वामी श्रद्धानन्दसंस्थापितोऽयं विश्वविद्यालयस्तु स्थापनाकालादेवारभ्य पर्यावरणजीवनमूल्यसमन्विताया: शिक्षापद्ध-तेरुत्तमा विद्यास्थली विद्यते । अत्र प्राचीननवीनशिक्षापद्धत्योरभिनवे रमणीये संगमे रमते समेषां मन: ।

जगति वर्तमानानां प्राणिनां जीवनं शुद्धेन पर्यावरणेन जीवनमूल्येन च संरक्ष्यते । पर्यावरण जीवनमूल्ययोरन्योऽन्यं कश्चित् सम्बन्धो विद्यते स चानन्यथा सिद्ध एव ।

ममायं प्रत्ययो यत् पर्यावरणं विना न मूल्यविकासो नापि च मूल्यं विना पर्यावरणविलास: । बाह्याभ्यान्तरभेदात् पर्यावरणस्य द्विधात्वं स्वीक्रियते । यथा

भौतिकं पर्यावरणं पवित्रं सत् प्राणिनामान्तरिकं पर्यावरणं नूनं पवित्रयति तथैवान्तरिकं पर्यावरणं पवित्रं सद् भौतिकं पर्यावरणं पवित्रयति ।

अधुना तूभयविधमपि पर्यावरणं क्वचिदपि निर्दुष्टं न दृश्यते । मूल्यदोषमपाकर्तुं पर्यावरणं निर्दोषञ्च कर्तुं केवलमुचिता शिक्षापद्धतिरेव प्रभवति । अत एवास्मिन् विश्वविद्यालये विद्वद्गोष्ठीयमाविष्कृता । अस्यां गोष्ठ्यां सा शिक्षापद्धतिरन्वेष्टव्या विद्वद्भिर्या पर्यावरणजीवनमूल्य समस्यानां समाधानकर्त्री भवेत् । या शिक्षापद्धतिः पर्यावरण जीवनमूल्यमहत्त्ववादिनी विद्यते सैव स्वीकर्त्तव्या यतो हि शिक्षा मानवजगद् विकासाय भवति न तु ह्रासाय ।

हे विद्वांसः ! पुण्यप्रधाने, मधुमासवासिते सिताकाशे यातायातबाधारहित-वर्त्मनि, सुखसेव्ये, वसन्तकाले गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्य पवित्र प्राङ्गणमभि-निविष्टानां विद्यावतां भवतां संगमः परस्परं प्रीतिकरः सुखकरः कीर्तिकरश्च भूयादित्यहं कामये ।

राष्ट्रीयविद्वद्गोष्ठीसुखमनुभवद्भिर्भवद्भिर्मनोविदग्धजनोचिताः श्रोतृजनचित्तानुरञ्जनशीलाः विचाराः प्रदास्यन्ते । अत्र मतिमत्सु भवत्सु केचन वैदिकशिक्षापद्धतिमाश्रित्य, केचन उपनिषदां शिक्षापद्धतिमुद्दिश्य, केचन पुराणवर्तिनीं शिक्षापद्धतिं मनसि निधाय, केचन संस्कृतसाहित्ये प्रतिष्ठितां शिक्षापद्धतिमवेक्ष्य, केचन च वर्तमानां शिक्षापद्धति-मुद्वीक्ष्य शिक्षापद्धतौ पर्यावरणजीवनमूल्ययोर्महत्त्वं प्रतिपादयिष्यन्ति गोष्ठीशोभामभि-वर्धयिष्यन्ति, लोकोत्तरमानन्दमनुभविष्यन्ति च ।

पुनरपि भवतां स्वागतं व्याहरता पावमानीयं स्तोतव्यामया ।
येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा
तेन सहस्रधारेण पावमानी पुनन्तु नः ॥

प्राचीन भारत में नैतिक मूल्यों की अवधारणा
(शिक्षा के विशेष सन्दर्भ में)

लेखक– डा० शिवशेखर मिश्र

मानव समाज में दो प्रकार की प्रवृतियां पाई जाती हैं—एक केन्द्रोन्मुखी अथवा अन्त: प्रसारी (Centripetal), दूसरी वृत्तोन्मुखी अथवा बाह्यप्रसारी (Centrifugal) / भारतीय संस्कृति अपने मूल में अन्त: प्रसारी है। वह संसार में रहते हुए भी आदर्शोन्मुखी है और बाहर रहकर भी अन्त:स्थ है, आत्मस्थ है। प्राचीन महर्षियों द्वारा समाज की उन्नति हेतु प्रतिपादित समस्त योजनाओं का आधार यही प्रवृत्ति है। भारतीय शिक्षा—पद्धति भी इसी मूल प्रवृत्ति पर आश्रित है।

प्राचीन भारत के नैतिक मूल्यों के समुचित आकलन हेतु हिन्दुत्व के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करना अत्यन्तावश्यक है। डा० राधाकृष्णन् के मत में हिन्दुत्व एक विचारधारा की अपेक्षा जीवन-सरणि के रूप में प्रशस्त हैं। जहां एक ओर विचार के क्षेत्र में हिन्दू धर्म में पूर्ण स्वतन्त्रता है, वहीं दूसरी ओर मनुष्य व्यावहारिक क्षेत्र मे कठोर नियमों से बंधा हुआ है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है उसकी आध्यात्मिक भावना जिसके लिए नैतिक मूल्यों का अनुसरण आवश्यक है। धर्मग्रन्थों के अनुसार मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय नाम से प्रसिद्ध चार प्रमुख साधन है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से मोक्ष परम पुरुषार्थ है और जीवन का चरम लक्ष्य है। वह अदृष्ट है। उसे प्राप्त करने का मुख्य साधन धर्म है जो सबके मूल में स्थित है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण "यतोऽभ्युदयं नि:श्रेयसिद्धि : स धर्म" बतलाया है अर्थात् जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है। अत: धर्म दृष्टादृष्ट है। अर्थ और काम पुरुषार्थ का सम्बन्ध लौकिक जीवन से है। अत: वे दृष्ट हैं कौटिल्य ने "अर्थ एवं प्रधान:" कहकर अर्थ की प्रधानता स्वीकार की है। उनका कथन है कि धर्म और काम के मूल अर्थ है—"अर्थमूलो हि धर्मकामो"। अर्थ का लक्षण कौटिल्य के अनुसार इस प्रकार है "विद्याभूमिहिरण्यपशु-धान्यभाण्डोपरस्करम् मित्रादीनामर्जनर्जितस्य विवर्धनमर्थ:" अर्थात् विद्या, भूमि, सुवर्णादि,

हाथी, घोड़ा, आदि पशु अन्न, गृहोपयोगी लौह, काष्ठ, मृत्तिका आदि के विभिन्न पात्र तथा मित्रादि की प्राप्ति तथा उनकी निरन्तर वृद्धि करना अर्थ है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल धन से सम्बन्धित शास्त्र से नहीं है वरन् आत्मविद्या, वेदत्रयी, धन, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, दण्डनीति अथवा राजनीतिशास्त्र आदि के ज्ञान से है "आती-मकीमपी-वार्तादिण्डनीतिश्वेति विद्या:"। इसी प्रकार काम का भी व्यापक अर्थ है। वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार "श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्ते मनसाऽधिष्ठितानां स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यत: प्रवृत्ति: काम:" अर्थात् आत्म से युक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, चक्षु जिह्वा, घ्राण-इन पाँच इन्द्रियों द्वारा आनन्द-प्राप्ति की प्रवृति को काम कहा है। भगवान कृष्ण ने गीता मे कहा है 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ (गीता 7-11) अर्थात् धर्म के अनुकूल काम मैं ही हूं। इस प्रकार धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन करता हुआ मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता हैं अथवा

दृष्ट से दृष्टादृष्ट द्वारा अदृष्ट की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है।

पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि एक साथ एक ही समय में सम्भव नही है। अर्थ पुरुषार्थ में पदार्थ की प्रधानता है तथा काम मनोरंजन अथवा आनन्द की प्रमुखता है। धर्म में अदृष्ट का अंग भी है मोक्ष का सम्बन्ध पूर्णतया अदृष्ट से है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए प्राचीन महर्षियों ने इनके समुचित पालन हेतु मनुष्य की अपेक्षित सौ वर्ष की आयु को चार भागो में विभक्त कर दिया जिन्हें आश्रम कहते है। इस विभाजन द्वारा प्रत्येक पुरुषार्थ का विधिवत् पालन किया जा सकता है। प्रत्येक आश्रम की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि मनुष्य शनै: शनै: आत्म ज्ञान के चरम लक्ष्य मोक्ष तक सरलता से पहुंच सके। इन आश्रमों का पुरुषार्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हिन्दू विचारधारा के अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग संग्रह नही वरन् त्याग और परोपकार है। उसका सम्पूर्ण जीवन धर्मप्रधान है। उसका प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम से होता है। जिसका उद्देश्य शिक्षा तथा अनुशासन द्वारा शरीर एवं मन को

शुद्ध तथा स्वस्थ रखना है। यह अवस्था धर्मसंग्रह की है और निवृत्ति-प्रधान हैं। इसकी अवधि २५ वर्ष की आयु तक हैं। इसके पश्चात वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यद्यपि इसका सम्बन्ध अर्थ और काम पुरुषार्थों से होने के कारण प्रवृत्ति-प्रधान है किन्तु धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन करता हुआ त्यागमय भोग का जीवन बिताता है अर्थात् गृहस्थ धर्म की अनुज्ञा से भोगों को भोग, पर भोगासक्त न हो। भोग विधेय है किन्तु उसके साथ त्याग भी अपेक्षित है। गृहस्थाश्रम की अवधि ५० वर्ष की आयु तक है। जब मनुष्य में वासना का क्षय होने लगे तो वह वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे। वह सहधर्मिणी को संग लेकर वन में रहे। मनुष्य पुनः धर्म की ओर लौटता है और मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। कठिनतप और अनु-शासन का पालन करता हुआ मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। ७५ वर्ष की आयु तक इस आश्रम में रहता हुआ वह आश्रम-मन्दिर के अन्तिम शिखर सन्यास में प्रविष्ट होता है। यह पूर्ण निवृत्ति का आश्रम है। इसका सम्बन्ध मोक्ष से है। इस आश्रम में उसे न मृत्यु का ध्यान रहता है, न जीवन का—

'नाभिनन्देत् मरणम् नाभिनन्देत् जीवनम्'। संसार की समस्त वस्तुओं को त्याग करने के कारण ही वह सन्यासिन् कहलाता है।

पुरुषार्थचतुष्टय के समुचित पालन करने के लिए संसार और शिक्षा को अधिक महत्व दिया गया है। संस्कार-दोष और इन्द्रिय-दोष के कारण अविद्या का उदय होता है-'संस्कारदोषादिन्द्रियदोषाच्च अविद्या'। अविद्या पतित विचारक प्रवृत्तियों से रक्षा करने और विद्या-जनित उत्कृष्ट प्रवृत्तियों को प्रेरित करना ही शिक्षा कहा गया है।

भारतीय शिक्षा की श्रेणियां है—

१. माता के प्रभाव से प्राप्त शिक्षा

२. पिता के प्रभाव से प्राप्त शिक्षा

३. आचार्य के प्रभाव से प्राप्त शिक्षा

जन्म के पूर्व माता के उदर में रहते हुए ही बालक की शिक्षा का प्रारम्भ हो जाता है। उस समय केवल शरीर का ही निर्माण नहीं होता वरन् माता के विचारों के अनुकूल प्राण मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का विकास होता है। जन्म से पूर्व गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन आदि संस्कारों के सम्पादन से द्विजातियों के गर्भ और बीज के दोषों की शुद्धि होती है। जन्म लेने पर बालक का सर्वप्रथम सम्बन्ध माता से होता है और माता के सान्निध्य में रहकर बालक पिता सम्पर्क मे आकर उसके आचार, विचारादि से प्रभावित होता है। इस प्रकार माता-पिता द्वारा सम्पादित सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौलकर्म-ये आठ मलापनयन संस्कार कहलाते हैं। ये पिता द्वारा सम्पादित होने के कारण पितृकर्तृका: कहलाते हैं। इनके द्वारा बालक की शुद्धि होती है और उसकी आन्तरिक वृत्तियों का विकास होता है। इनके अतिरिक्त कर्णवेध, उपनयन, व्रतादेश, वेदस्वाध्याय, केशान्त, स्नान, विवाह, अग्निपरिग्रह–ये आठ अतिशयाधान संस्कार कहलाते हैं। आचार्य द्वारा सम्पादित होने के कारण इन्हें 'आचार्यकर्तृका.' भी कहते हैं।

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के बालक का पांचवें वर्ष, क्षत्रिय के बालक का छटे तथा वैश्य के बालक का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए। उपनयन' का अर्थ है समीप ले जाना। बालक को विद्याध्ययन हेतु गुरु के पास ले जाया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार बालक गुरु के समीप जाकर 'उपैम्यहम् भवन्तम्" कहता था। तब गुरु उसके सिर पर दाहिना हाथ रखकर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ता था और तब से वह ब्रह्मचारी बन जाता था। गुरु उसे वेदों का अध्यन कराते थे और अप्रत्यक्ष रूप से आचार, विचार एवं सांसारिक व्यवहारों का ज्ञान कराते थे। गुरू के गृह में २५ वर्ष की अवस्था तक वह अध्ययन करता था, तत्पश्चात् उसका समावर्तन संस्कार होता था। समावर्तन का अर्थ है लौटना। शिष्य अपने घर लौटकर विवाह से सम्पन्न होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस अवस्था में आने पर उसकी शिक्षा पूर्ण समझी जाती थी। वैसे मनुष्य जीवन के अन्तिम स्तर तक शिक्षा प्राप्त करता रहता है। भारतीय शिक्षा में प्रत्येक स्नातक के लिए तीन प्रमुख उद्देश्य हैं—

(१) मातृदेवो भव (२) पितृदेवो भव (३) आचार्यदेवो भव।

शिक्षा प्राप्त करने पर ब्रह्मचारी में अहंकार पैदा हो सकता है। इसलीए उसे गुरु के चरणों में आत्म-समर्पण करके आश्रम में जीवन बिताने तथा भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने के लिए कहा गया है। राजाओं के बालकों के लिए भी यही व्यवस्था थी।

वर्ण-व्यवस्था में भी त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। चारों वर्णों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भोग की दृष्टि से संसार का सारा सम्मान ब्राह्मण के चरणों में अर्पित होना चाहिए किन्तु त्याग यह है कि वह उसे विष समझ कर उसके प्रति उदासीन रहे—

"सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेद् विषादिव"।

पृथ्वी पर शासन का अधिकार क्षत्रिय को प्राप्त था किन्तु यह सत्ता उसके भोग के लिए नहीं थी वरन् त्याग का उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करने के लिए पृथ्वी का स्वामी होते हुए भी जब राष्ट्र पर संकट उपस्थित होता था तब वह आत्मोत्सर्ग के लिए तैयार रहता था। युद्ध-क्षेत्र में वह सबसे आगे प्रस्थान करता था। इसी प्रकार वैश्य के हाथों में कृषि, व्यापार, व्यवसाय उद्योग-धन्धे आदि सौंपे गये थे, किन्तु ऐसा नहीं था कि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्जन में लग जाये। उसका मुख्य कर्तव्य था राष्ट्र को समृद्ध बनाना। अन्त में शूद्र का सारा जीवन त्यागमय था। शूद्र अन्य वर्णों की इच्छा के अनुसार उनकी सेवा करते थे। समाज में उन्हें भी उच्च स्थान प्राप्त था। उन्हें कोई हीन दृष्टि से नहीं देखता था। वे अपनी इच्छा से तीनों वर्णों के लोगों से मिल सकते थे। इस प्रकार चारों वर्णों के लोग अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन का शेष भाग पारलौकिक जीवन के चिन्तन मे लगाते थे। वे अपना कार्य करते हुए अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी थी। वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध सामाजिक उत्थान से था और आश्रम-व्यवस्था का सम्बन्ध व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक विकास से था। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में तादात्म्य

स्थापित करना इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य था। मनुष्यों के सात्विक, राजसिक व तामसिक गुणों पर ही वर्णाश्रम–व्यवस्था खड़ी है। शनैः शनैः त्याग करने का उपदेश देते हुए व्यक्ति और समाज को उन्नत अवस्था तक पहुंचने का प्रयास इस व्यवस्था द्वारा किया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में आश्रम–व्यवस्था की भांति वर्ण-व्यवस्था भी सहायक है। वेदों का अध्ययन तीनों वर्णों के लिए आवश्यक था। ब्राह्मण छात्र जो आगे चलकर पुरोहित का कार्य करना चाहते थे, उन्हें ऋचाओं का विस्तृत अध्ययन करवाया था। उन्हें यज्ञादि–सम्बन्धी ऋचाये कंठस्थ करनी पड़ती थी। अन्य सर्वसाधारण छात्र उनका साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करते थे। अन्य वर्ग के लोग वेदाध्ययन समाप्त कर अन्य लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे। क्षत्रिय बालक धनुर्विद्या का विशेष अध्ययन और अभ्यास करते थे। वैश्य बालक गणित तथा व्यवहार सम्बन्धी शिल्पों और कलाओं का विशिष्ट अध्ययन करते थे।

वैदिक ज्ञान एवं साहित्य की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम स्तर पर पहुंचने तक शिक्षा प्राप्त करता रहता है। ब्रह्मचर्याश्रम में रहता हुआ बालक वैदिक संहिताओं का विशेष अध्ययन करता था। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार कर्म-काण्ड आदि का अध्ययन करता था जिसका कार्यान्वियन उसे गृहस्थ आश्रम में करना पड़ता था। ब्राह्मण–ग्रन्थों में इसका विशद विवेचन प्राप्त होता हैं। वानप्रस्थ में प्रवेश करने पर मनुष्य अरण्य में अध्ययन करने योग्य आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययन करता था, जैसा कि सायणाचार्य का कथन है– "अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते" सन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने पर उपनिषदों का अध्ययन, मनन तथा चिन्तन किया जाता था।

'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार सद् धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्, प्रत्यय लगाने से 'उपनिषद्' शब्द बनता है। सद् धातु का सामान्य अर्थ बैठना है। 'उप' और 'नि' उपसर्ग लगने से इसका अर्थ है

निश्चित रूप से किसी के समीप बैठना। गहन वनों में वृक्षों की छाया के नीचे गुरु के समीप बैठकर गूढ़ विचारों का समावेश उपनिषद् में प्राप्त होता है। अमरकोषकार उपनिषद् शब्द का अर्थ 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्' अर्थात् गूढ़ धर्म एवं रहस्य बतलाते है। सद् धातु के तीन अर्थ और है–विशरण (विनाश), गति (ज्ञान और प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना) इन अर्थों के आधार पर उपनिषद् की व्याख्या इस प्रकार है— "उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्" अर्थात् जो समस्त अनर्थों को जन्म देने वाले संसार का नाश करती संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।

प्रत्येक भारतीय के मन पर प्रारम्भ से ही इस बात की धारण दृढ़ कर दी जाती थी कि उस पर जन्म से ही कितना उत्तरदायित्व है। उसे अपने जीवन में तीन ऋण चुकाने पड़ते हैं – पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा देव ऋण। पितृ ऋण का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है तथा ऋषि ऋण एवं देव ऋण का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से। पितृ ऋण से तात्पर्य पुत्र पर पिता के ऋण से है। प्रत्येक व्यक्ति पर माता-पिता का ऋण होता है जो उसे जन्म देते हैं। इस ऋण को चुकाने के लिए मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह वंश-परम्परा को अविच्छिन्न रूप से चलाते रहने के लिए उत्तम सन्तान को जन्म दे। गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के कारण मनुष्य का यह दायित्व हो जाता है कि वह गुरु से प्राप्त ज्ञान को निरन्तर प्रज्वलित करता रहे। वेदाध्ययन एवं ज्ञानोपार्जन द्वारा समाज में ज्ञान की ज्योति सदा जगमगाती रहती है और व्यक्ति गुरु ऋण से उऋण हो जाता है संसार में जन्म लेने के कारण तथा प्रशस्त जीवन बिताने के कारण मनुष्य ईश्वर का ऋणी है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यज्ञादि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके इस ऋण से मुक्ति होती है। इसी प्रसंग में पंच महायज्ञों का विधान किया गया है जिनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। ये पंचमहायज्ञ इस प्रकार हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ। मनु ने इनका लक्षण इस प्रकार बतलाया है:—

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।मनु ३/७०"

अर्थात् अध्ययन, अध्यापन द्वारा सतत् ज्ञान का विकास करना ब्रह्म यज्ञ, पितरों का अन्न, जलादि देकर तर्पण करना पितृ यज्ञ, दैनिक अग्निहोत्रादि का सम्पादन देवयज्ञ पशु–पक्षियों आदि को अन्नादि द्वारा संतुष्ट करना भूतयज्ञ तथा अतिथि का समुचित सत्कार नृयज्ञ है ।

इस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्य वृत्तियों के विकास द्वारा परमार्थ की सिद्धि ही प्राचीन भारतीय शिक्षा का आदर्श है ।

वातावरण और मूल्यों का उपनिषद्काल की शिक्षा पद्धति में स्थान

—डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, आगरा

मानव इतिहास में शिक्षा मानव के विकास के लिए एक सतत आधार रही है मनुष्य जीवन पर्यन्त शिक्षा की प्राप्ति विविध रूपों में करता है और अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए इसका सहारा लेता है। शिक्षा शब्द संस्कृत भाषा की "शिक्ष" धातु में "अ" प्रन्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ होता है "सीखना"। यद्यपि शिक्षा के लिए ज्ञान, विद्या आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु "विद्या" और "शिक्षा" में अन्तर होता है। विद्या केवल अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करती है किन्तु शिक्षा हमारे चरित्र का भी निर्माण करती है। शिक्षा दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप प्रदान करती है लेकिन शिक्षा और दर्शन का संबन्ध एक पक्षीय नहीं अपितु द्विपक्षीय है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

उपनिषद् काल मे शिक्षा स्थल नगर एवं ग्राम से दूर एकान्त स्थान में होते थे। इन्हें गुरुकुल या आश्रम कहते थे। गुरुकुलों की परम्परा में शिक्षा का अपना अलग ही स्वरूप था। एक तो उस समय के विद्यार्थी प्रकृति के सान्निध्य में सरल एवं स्वाभाविक जीवन बिताते थे। ब्रह्मचर्य का जीवन बड़ी कठिनाई और संयम का जीवन था नित्य स्नान करके वह ऋषि और पितरों का तर्पण, देवता का अर्चन, समिधाओं से होम करता था। उसके लिए शहद, मांस, गन्ध, माला, रस और स्त्री वर्जित थीं। इनके अतिरिक्त शरीर में उबटन और नेत्रों में कज्जलादि का लगाना, पादुका और छत्र का धारण करना, काम, क्रोध, नृत्य, गीत वाद्यादि का उसके लिए निषेध था। जुआ और निरर्थक वाद और कलह, पराई निन्दा, झूठ, स्त्रियों की ओर देखना और दूसरों को नुकसान पहुंचाना ये सब बातें ब्रह्मचर्य जीवन में मना थीं।

गुरुकुलों में प्रकृति के सान्निध्य में ब्रह्मचर्य का पालन सहज रुप से शिक्षार्थी को शिक्षा के प्रति एकाग्र होने में सहायक था। ब्रहमचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कारों से होता था। उपनयन के समय बालक अग्नि के समक्ष प्रतिज्ञा

करता था—

अग्नेव्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तत्तेप्रब्रवीमि तच्छकेयम् तेनर्ध्यासम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि

हे व्रतपते अग्निदेव ! मैं असत्य अथवा अज्ञान से सत्य अथवा प्रकाश की ओर चलना चाहता हूं। आज से यही मेरा व्रत होगा। मैं इस व्रत को पूर्णतया पालन करता हुआ उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता रहूं, यही मेरी प्रार्थना है। आचार्य भी उस अवसर पर बालक को अपने संरक्षण में लेकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए सौ वर्ष की आयु होने का आशीर्वाद देता था "सदा कर्मशील बनो, दिन में न सोओ, अधर्माचरण को छोड़कर आचार्य के अधीन होकर रहो। आहार विहार में यथोचित नियमों का पालन करते हुए सदा विद्योपार्जन में यत्नशील रहो।

वस्तुतः उपनिषद्काल में वैदिक जीवन के ऋत और सत्य के आदर्श को अपनाते हुए पवित्रता एवं कल्याण की भावना को विशेष महत्व दिया जाता था। पुस्तकीय शिक्षा से अधिक संस्कारों का महत्व था। अतः दीक्षान्त के समय विद्यार्थियों को सत्य एवं धर्म का आचरण करने का आदेश दिया जाता था। कुशल कर्म, स्वाध्याय और प्रवचन से भी प्रमाद न करने का आदेश दिया जाता था। आचार्य के लिए भी अथर्ववेद में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। ११/५/३

अर्थात् आचार्य अपने उपनयमान ब्रह्मचारियों के लिए उतनी सावधानी एवं ममता रखे जितनी गर्भस्थ शिशु के लिए माता रखती है। इस युग की शिक्षा में आचार्य और ब्रह्मचारी शिक्षार्थी का अत्यन्त घनिष्ट संबंध था। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के अपने-२ निश्चित कर्तव्य थे। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य के नियमों से संयुक्त अपने मन को धर्म की ओर ले जाता था और गुरु की प्रेरणा उसका अवलम्बन थी। वन प्रान्त में रहकर ब्रह्मचारी को नियमों के पालन में कोई कठिनाई नहीं होती थी क्योंकि उसे तदनुरूप

वातावरण प्राप्त था। गुरु के उपदेश सुनकर शिष्य कण्ठाग्र कर लेते थे। प्रश्नोत्तर शैली से भी शिक्षा दी जाती थी। शिष्य अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रश्न पूछते थे और गुरु उसका उत्तर देते थे। शास्त्रार्थ, वाद-विवाद आदि के लिए विद्वानों की परिषदों का आयोजन किया जाता था, जिनसे शिष्य की प्रतिभा विकसित होती थी, मेधा जाग्रत होती थी। शिष्य आचार्य से उपदेश ग्रहण कर उस पर चिन्तन-मनन करते थे और शंका होने पर उसका निवारण करने गुरु के समक्ष उपस्थित होते थे। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा मेधा को प्रखर बनाने वाली थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् काल की शिक्षा पद्धति में वातावरण और उदात्त जीवन मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान था। आश्रम या गुरुकुल के नाम से ही हम आज भी उस पवित्र मूल्यों वाली शिक्षा पद्धति की सहज ही कल्पना कर सकते हैं, जिसमें प्रतिभा एवं मेधा शक्ति के परिवर्धन का विशेष आग्रह करता था। प्रकृति की गोद में, एकान्त शान्त आश्रम में सहज ही उस पवित्रता की उपलब्धि हो जाती थी, जो मानव जीवन को उदात्तता प्रदान करती थी। जीवन के उदात्त मूल्यों का ग्रहण उस शिक्षा पद्धति का परम लक्ष्य था और तदनुकूल वातावरण भी आश्रमों और गुरुकुलों में सहज ही उपलब्ध था। वहाँ किसी प्रकार का प्रदूषण नहीं था-न वायु का प्रदूषण था और न ध्वनि का प्रदूषण था। इसलिए शिक्षार्थियों के मस्तिष्क प्रदूषणों के दुष्प्रभाव से मुक्त थे। वातावरण का उपनिषद्काल की शिक्षा में विशेष महत्व था।

औपनिषदिक काल के मूल्य बहुत उदात्त हैं। उनमें लौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि को विशेष महत्व दिया गया। इस युग के मूल्य संक्षेप में इस प्रकार हैं— ज्ञान एवं कर्म का संवलित रूप, तप और श्रद्धा, सत्य कथन—सत्यं वद, दान और अपरिग्रह, शम व दम, ब्रह्मचर्य, संन्यास एवं वैराग्य, योग साधना—ध्यान, आसन, प्राणायाम तथा सदाचरण—विश्वानि देव सवित दुरितानि परासुव. यद् भद्रं तन्न आसुव।

यज्ञ और वैदिक परम्परा में पर्यावरण और शिक्षा

डा० भूपेश चन्द्र, मेरठ

वैदिक ज्ञान सर्वोपरि माना जाता है। इस सृष्टि में किसी के सिखाये बिना कोई भी कुछ नहीं सीखता। ईश्वर ने यदि हमें वेद द्वारा उस अनन्त ज्ञान को न दिया होता तो क्या हम कुछ भी सीखने में समर्थ होते। अत: ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ मे अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियों को वैदिक ज्ञान मानव के कल्याण हेतु प्रदान किया। आज एक दूसरे के द्वारा सीखने-सिखाने का सिलसिला चल रहा है। प्रत्येक प्राणी इस जगत मे कुछ न कुछ सीखता है- और फिर काल कवलित हो जाता है। विष्णु शर्मा ने बड़े ही सुन्दर शब्दों मे मित्र-लाभ में व्यक्त किया है -

आहार निद्रा भयमैथुनन् च सामान्य मेतत् पशुभि र्नराणाम्। धर्मो
हितेषामधिको विशेषो: धर्मेणहीना पशुभि समाना :॥

अर्थात् मनुष्य में धर्म ही एक विशेष वस्तु है जिसके बिना मनुष्य पशु के समान है, यहां धर्म से तात्पर्य मनुष्य मात्र द्वारा अपनाई जाने वाले समस्त क्रिया कलाप हैं न कि मनुष्य द्वारा चलाये गये मत-मतान्तर।

यही कारण है कि समस्त वेदों को किसी धर्म विशेष से जोड़ना उचित न होगा। यही कारण है कि चारों वेदों को यदि एक शब्द में हम कहना चाहे तो वह-"मनुर्भं", हे मानव तू मानव बन।

मनुष्य संसार में सुख की कामना करता है। सुख एक सांसारिक वस्तु है। इसके उपार्जन के लिए मनुष्य सब प्रकार के कामों में लगा रहता है। औद्योगिक विकास और वह भी पिछले कुछ वर्षों में द्रुत गति से हुए विकास में वातावरण को दूसरा स्थान दिया गया। जिसके परिणाम स्वरुप एक ऐसा प्रदूषित वातावरण बनाया है जिसके उलटने का समय भी हाथ से निकल गया है।

दूसरी ओर आनन्द है, जिसका सम्बन्ध आत्मा से है। क्या आज का विज्ञान इसको (आत्मा) नकार सका है। यहां इस सन्दर्भ में हम विचार नहीं कर रहे कि हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर चला (धियो यो नः प्रचोदयात्-ऋ०म० ३ सूक्त ६२ म० १०) इसी

प्रकार उस परमेश्वर से हम प्रार्थना करते हैं कि "हम कानों से सदा कल्याण कारक (वेदमंत्र) सुनें, नेत्रों से हम कल्याण कारक दृष्य ही सौ वर्ष तक देखें। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्"

— यजु० ३६.२४

पर्यावरण शब्द 'परि" तथा "आ" उपसर्ग पूर्वक वृ धातु से ल्युट प्रत्यय लगाने से बना है जिसका अर्थ आज चारों ओर का आवरण या आपादन होता है। सम्पूर्ण पर्यावरण तीन प्रकार का माना गया है—

प्रथम, प्राकृतिक पर्यावरण जिसके अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, समुद्र, नदी, जल, वायु, पृथ्वी और प्राकृति के सब पदार्थ आते हैं।

द्वितीय, सामाजिक पर्यावरण है जिसमें मनुष्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त समूह, संगठन समिति संस्था और समाज की रचना करता है।

तृतीय सांस्कृतिक पर्यावरण जो मनुष्य द्वारा निर्मित धर्म, विश्वास, नियम, रीति-रिवाज, नैतिकता, ध्वनि, कला एवं साहित्य में निहित है।

आज के भौतिक विज्ञान में प्रदूषण फैलाने वाले कारणों को कम करने अथवा दूर करने के लिए उपाय बताये गये हैं। भौतिक विज्ञान ने जिन कारणों को प्रदूषण फैलाने के लिए जिम्मेदार ठहराया है वे हैं—

१— धुआँ २— कूड़ा—कचरा ३— वृक्षों की कटाई ४— खाद व कीटनाशक औषधियां।

कुल मिलाकर यह सब कारण वायु, जल तथा वनस्पति को दूषित करने का काम करते हैं। इन सब कारणों को दूर करने के लिए उस प्रभु से प्रार्थना की गई है यजुः वेद के अ० ३६ के १७ वें मंत्र में, जिसे हम शान्ति करण मंत्र के नाम से जानते हैं, वह है—

"वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो
घर्मो सि विश्वद्याऽअसि परमेश धाम्ना दृस्व मा ह्वर्मा तें

राष्ट्रपतिर्ह्वार्षीत् ॥ यजु. १. २.

"..........इसलिए सब मनुष्यों के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करना चाहिए।" इसी प्रकार सृष्टि की रचना करने वाले परमेश्वर की स्तुति करते हैं अथवा भौतिक पक्ष में अग्नि की बारम्बार इच्छा करते हैं।

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं
रत्नधातमम्" " ऋ० म० १/सू०१/म०१.६॥

इस यज्ञ में किन-२ पदार्थों का प्रयोग वर्जित है तथा किन के द्वारा किया जाना चाहिए वह यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के ८१ वें मन्त्र में स्पष्ट किया गया हैं।

तदस्य रूपममृत शचीमिमिस्त्रो दधुर्देवताः सङ्कररराणाः। लोमानि
शष्पैर्बदुधा न तोक्यमिस्तगस्य माध्ऽसममव लाजाः ॥

महर्षिदयानन्द ने अपने भाषण में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए भावार्थ में लिखा है— जो बहुत काल पर्यन्त डाढ़ी-मूंछ धारण पूर्वक ब्रह्मचारी अथवा पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय भद्रजन हैं वे ही यज धातु के अर्थ जानने योग्य अर्थात् यज्ञ करने योग्य होते हैं। अन्य बाल बुद्धि अविद्वान् नहीं हो सकते। वह हवन रूपी यज्ञ ऐसा है कि जिसमें मांस, क्षार, खट्टे से भिन्न पदार्थ वा तीखा आदि गुण रहित सुगन्धित पुष्ट मिष्ट तथा रोग नाशकादि गुणों के सहित हो वही हवन करने योग्य होगें। प्रदूषण की समस्या का विभाजन ऋग्वेद में करते हुए कहा गया है कि उपरी-भाग को सूर्य, मध्य भाग को वायु तथा निम्न भाग की समस्या का समाधान भौतिक अग्नि के द्वारा होता है।

सूर्यो तो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः" ऋ० १०/१५८/६.

यज्ञ से वायु और जल का शोधन होता ही हैं वरन् इसके साथ ही संसार का प्रत्येक प्राणी अपने शरीर से मल–मूत्र का विसर्जन करता है, परन्तु यज्ञाग्नि में सुगन्धित, रोगनाशक औषधियां इन तत्वों के विनाश और जल शोधन का कार्य करती हैं । यही कारण है कि ईश्वर से यह प्रार्थना की गई है– वसोः पवित्रमसि शत धारं वसोः पवित्रमसि सहस्त्रधारम् । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण सुप्वा कामधुक्षः । यजु० १.३. इसी प्रकार के बहुत से मन्त्र चारो वेदों में दिये गये हैं । यह तथ्य भी सत्य है कि वेदों में वर्तमान स्थिति से निबटने के लिए बहुत से उपाय बताये गये है जिसका पालन करना मानव के अपने हित में है और यह कार्य शिक्षण द्वारा ही सम्भव है ।

शिक्षा–पद्धति में पर्यावरण एवं मूल्यों का महत्व

डा० सुषमा, ९० द्वारिकापुरी मु० नगर

वर्तमान संगोष्ठी के लिए निर्धारित विषय शिक्षा–पद्धति में पर्यावरण एवं मूल्यों का महत्त्व' के सम्बन्ध में मेरे मन में चिरकाल तक यह ऊहापोह चलता रहा कि इसे एक विषय माना जाये अथवा दो विषय। अन्त में मैं इस निर्णय पर पहुंची कि शिक्षा में मूल्यों का महत्त्व पर विचार करना सम्भवत: इस गोष्ठी का मुख्य विषय है। किन्तु वर्तमान दशक में समग्र विश्व में प्रबुद्ध लोगों के मानस मे विश्व–पर्यावरण चिन्ता और चर्चा का विषय बन गया है, इसीलिए पर्यावरण को यहां शीर्षक में हठात् संयुक्त कर दिया गया है। पर्यावरण पर चर्चा के समय एक अंग के रूप में यद्यपि वैचारिक पर्यावरण को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु उसका कथन (बोध) मूल्य के अन्तर्गत पर्यावरण विशेषण के बिना भी स्वत: हो जाता है। अत: अलग से उसके शब्दत: कथन की अपेक्षा नहीं रहती। अथवा दूसरा विकल्प यह रह जाता है कि प्रस्तुत शीर्षक में पर्यावरण और मूल्य इन दोनों को पृथक–पृथक विषय स्वीकार किया जाये एवं चिंता के कारणभूत पर्यावरण–प्रदूषण और मूल्यों का ह्रास दोनों विषयों पर साथ-२ सम्मिलित रुप से या अलग-२ स्वतन्त्र रुप से चिन्तन किया जाये।

पर्यावरण और मूल्य को अलग–२ विषय मानते हुए यह निर्विवाद रुप से स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षा में मूल्य की प्रधानतया प्रतिष्ठा हो जाने पर और उसके फलस्वरुप समाज के अंगभूत प्रत्येक व्यक्ति के जीवन–दर्शन मे मूल्यों के सुप्रतिष्ठित हो जाने पर पर्यावरण की चिन्ता सम्पूर्णत: समाप्त हो जायेगी, क्योंकि उस स्थिति में 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में फलता–फूलता दृष्टिगत होगा। परन्तु वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में, जहां शिक्षा मूल्यहीन राजनीतिज्ञों के हाथों का खिलौना बनी हुई है, कभी यह (सिद्धान्त) फलित होगा, ऐसा मुझे नहीं लगता।

प्राचीनकाल में शिक्षा को सदा ही शिक्षाविदों के आदर्शोन्मुख चिन्तन के अधीन ही रखा गया था, इसीलिए शिक्षा में औपचारिक शिक्षा की अपेक्षा जीवन–मूल्यों की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता रहा है। गुरुकुल से निकला हुआ स्नातक स्फटिक

के समान स्वच्छ और वज्र के समान दृढ होता था, लोभ, मोह आदि विकार उसके जीवन को अणुमात्र भी प्रभावित नहीं कर पाते थे, जिसका संकेत महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में महाराजा रघु और वरतन्तु के शिष्य कौत्स का चित्रण करते हुए किया है—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनद्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ।।[1]

सम्प्रति जब विश्वविद्यालयों में कुलपतियों की नियुक्तियों में राजनेताओं के स्वार्थ अथवा निजी इच्छाएं प्रधान होती हैं (जिसका स्पष्ट उदाहरण तमिलनाडु में मुख्यमंत्री और राज्यपाल का झगड़ा है), उन कुलपतियों की निजी इच्छाएं अथवा स्वार्थ आचार्यों, प्राचार्यों, उपाचार्यों आदि की नियुक्ति में हावी होते हैं, तब उनसे शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियों के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ?

आज यदि हम जीवन के मूल्यों की प्रतिष्ठा देखना चाहते है, तो हमें वैदिक काल की शिक्षाविधि को आदर्श के रूप में स्वीकार करना होगा, जिसमें गुरुकुल में भेजने से पूर्व वेदारम्भ संस्कार के समय पिता अपने पुत्र को उपदेश देता था— अपोऽशान । कर्म कुरु । आचार्याधीनो वेदमधीष्व । द्वादशवर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं चर । आचार्याधीनो भव अन्यत्र अधर्माचरणात् । क्रोधानृते वर्जय । मैथुनं वर्जय । उपरिशय्यां वर्जय । कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय । निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय । ······नित्यं युक्ताहार-विहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव । सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ।······आचार्यप्रियाचरण प्रातः सायमभिवादनविद्या-संचयजितेन्द्रियत्वादीनि एते ते नित्यधर्माः ।[2]

दूसरी ओर आचार्य शिष्य के समक्ष स्वयं को आदर्श के रुप में प्रतिष्ठित करते हुए—यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो तराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि

१. रघुवंश, ५/३१
२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १.२२, गोभिल गृह्यसूत्र ३.१.

तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्।[1] इत्यादि वाक्यों द्वारा मूल्यों के सम्बन्ध में चिन्तन करने और उन्हे जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए निरन्तर सचेत एव सजग रहने का निर्देश देता रहा है। इतना ही नहीं, अपितु उसकी तपश्चर्या के प्रसग में—'ऋत तपः, सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्त तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः स्वर्ब्रह्म तदुपास्वै—तत्तपः[2]—आदि वचनों के द्वारा ऋत, सत्य, श्रुत, शम दम आदि को जीवन में सुप्रतिष्ठित करने के लिए आदेश और उपदेश देता रहा है।

प्रथम शिक्षक माता—पिता और औपचारिक शिक्षा के प्रदाता आचार्यों के उपर्युक्त आदर्शों के अनुरूप शिक्षित और प्रशिक्षित स्नातक उस काल में सर्वाधिक समादरणीय स्वीकार किया जाता रहा है, जिसका संकेत हमे मनुस्मृति के उस सन्दर्भ में मिलता है, जहां राजा को भी स्नातक के लिए मार्ग खाली करने का निर्देश दिया गया है—

चक्रिणो दशमीथस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च॥
तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातक पार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्॥[3]

वर्तमानकाल में शिक्षाक्रम में प्रायः औपचारिक शिक्षा को ही ग्रहण किया जाता है, जो वस्तुतः लार्ड मैकाले की शिक्ष—ायोजना की देन है। वह न केवल पाश्चात्य पद्धति के विद्यालयों, महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयों में प्रतिष्ठित है, अपितु गुरु—कुल के नाम से संस्थापित शिक्षा—संस्थाओं में भी उसी प्रकार पनपती और फलती—फूलती दिखायी पड़ रही हैं। यह मैं इसलिए कहना चाहती हूं, क्योंकि आज गुरुकुलों मे भी उपनयन संस्कार के समय घोषित रूप से स्थापित वह गुरु—शिष्य का संकल्प दिखाई नहीं पड़ता है, जो—

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रपाठक ७, अनुवाक ११
२. तैत्तिरीयोपनिषद्, प्रपाठक १०, अनुवाक ८
३. मनुस्मृति, २/१३८–१३९।

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिः त्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥[1]

मन्त्र में स्पष्ट उल्लिखित है। जहाँ आचार्य शिक्षार्थी को शिक्षित करना अपना व्रत मानता है और शिक्षार्थी शिक्षित होना अपना व्रत समझता है तथा दोनों अपने-अपने व्रत की सम्पन्नता के लिए दूसरे का हृदय पाना चाहते हैं।

प्राचीन भारतीय परम्परा में शिक्षा का प्रारम्भ गर्भ के प्रारम्भ से ही होता रहा है, जिसका प्रमाण गर्भाधान संस्कार के समय अभीष्ट गर्भ के लिए 'यज्ञिय' विशेषण का प्रयोग[2] पुंसवन संस्कार के समय गर्भस्थ शिशु के लिए 'विद्वान्' का प्रयोग [मन्येऽहं मा तद् विद्वान्सम् माहं पौत्रमघं नियाम्][3], जातकर्म संस्कार के समय 'वेदो वै पुत्र नामासि, स जीव शरदः शतम्'[4] कहते हुए नवजात शिशु को ज्ञानमय बनने की प्रेरणा और स्वयं उसे ज्ञानमय बनाने का संकल्प घोषित होना है। इसी प्रकार जातकर्म और चूड़ाकर्म संस्कार में यजुर्वेद (३.६२) के मन्त्र—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥

में 'जमदग्नि' शब्द से भौतिक पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखकर उसमें गुणात्मक आधान एवं 'देव' शब्द से वैचारिक पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखकर उसमें गुणात्मक आधान के लिए सतत सन्नद्ध रहने की शिक्षा का निबन्धन हुआ। शिक्षा का यह क्रम जन्म के पूर्व से प्रारम्भ होकर औपचारिक शिक्षा के पूर्ण होने के बाद भी पूर्ण नहीं माना जाता रहा है। यही कारण है कि समावर्तन संस्कार के समय विद्या-स्नातक को भी विदा करने से पूर्व दीक्षा देते हुए आचार्य कहता है— 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' अर्थात् तुम्हारी शिक्षा ग्रहण करने का क्रम कभी शिथिल नहीं होना चाहिए।

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १/२१/७, पारस्करगृह्यसूत्र, २/२/१६ ।
२. यस्यै ते यज्ञियो गर्भो········। यजुर्वेद ८.२८ ।
३. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.१३.७ ।
४. आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.१५.३ ।

उपर्युक्त विविध प्रसंगों को देखने के बाद यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्राचीन वैदिक शिक्षा–प्रणाली में शिक्षा–क्रम आजीवन चलता रहा है और उस शिक्षा में भौतिक और वैचारिक दोनों प्रकार के पर्यावरणों को न केवल प्रदूषण–मुक्त रखने के लिए अपितु उसमें गुणात्मक परिष्कार करते रहने का संकल्प रहा है।

जैसा कि प्रारम्भ में संकेत किया गया है कि वैचारिक पर्यावरण प्रदूषण सर्वविध–प्रदूषण का मूल है और यह प्राकृतिक प्रदूषण से भी अधिक भयावह है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने 'पावका: न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः'[1] इत्यादि मन्त्रों में विद्याबुद्धि की देवता सरस्वती को पवित्र करने वाला स्वीकार किया था, क्योंकि बुद्धि की पवित्रता के बिना तो पर्यावरण के किसी अंग की पवित्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। लोभ, मोह, क्रोध ईर्ष्या, मद, मात्सर्य आदि विकार मानव की बुद्धि को विकृत करते हैं, जिसके फलस्वरूप वह प्रकृति को माता मानकर प्रेम के स्थान पर उस पर विजय पाने की इच्छा करता है और औद्योगिक योजनाओं के फेर में पड़कर पर्यावरण को इतना विकृत कर देता है या कर सकता है कि आज ओजोन परत के क्षरण के फलस्वरूप सर्वनाश को भी निमंत्रण दे चुका है। इसलिए बुद्धि को प्रदूषण से बचाकर रखने के लिए वैदिक ऋषियों ने देवी सरस्वती को पावक (पवित्र करने वाली) के स्वरूप में पहचाना था।

वैदिक ऋषियों ने भौतिक पर्यावरण के प्रति भी कभी उदासीनता नहीं बरती है। उन्होंने पृथ्वी को माता कहकर उसकी पावनता को बनाये रखने का संकल्प ग्रहण किया था। उन्होंने 'अमृतोपस्तरणमसि' 'अमृतापि–धानमसि'[2] इत्यादि मंत्रों में जल को बिछौने और ओढने की तरह महत्त्वपूर्ण माना है 'शन्नोदेवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये'[3] इत्यादि मंत्र में जल को पालन करने वाला तथा समस्त कल्याण की वर्षा करने वाला स्वीकार किया है। इसी प्रकार 'आपो हिष्ठा मयो भुवः', ०,

---

१. यजुर्वेद २०/८४

२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/२४.१२ और २१

३. यजुर्वेद ३६/१२

यो वः शिवतमो रस':० इत्यादि मंत्रों में जल को समस्त सुखों का दाता और अतिशय कल्याणमय घोषित किया है। 'मधुवाता ऋतायते.' 'मधु क्षरन्ति सिन्धवः'०[1] इत्यादि मंत्रों में प्रकृति के विविध पदार्थों को मिलाकर बनने वाले पर्यावरण के महत्त्व और उसके प्रति अपनी सजगता को प्रकट किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण के सभी अंगों का साक्षात्कार किया था, उनके गुण धर्म को, उनकी महत्ता को समझा और पहचाना था। उन अंगों में विकार क्यों और कैसे आ सकता है, इसे भली प्रकार समझकर पर्यावरण प्रदूषण से सर्वतो भावेन मुक्त बने रहने के लिए पृथ्वी, जल आदि को माता के रुप में, द्यौः और सूर्य आदि को पिता के रुप में मानकर उनके प्रति आदर भाव रखकर उनकी शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का संकल्प लिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने पर्यावरण की गुणवत्ता बढ़ाने के भी उपाय खोजे थे और उनके लिए वे सतत प्रयत्नशील थे। इसीलिए उनकी यह भावना मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'[2] कार्यान्वित होती रही है और 'यतो यतःसमीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः'[3] अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥[4] इत्यादि मन्त्रों में अभिव्यक्त सर्वतोभावेन अभय की भावना पूर्ण होती रही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पर्यावरण के प्रति सजगता, उसमें गुणात्मक आधान करते रहने का संकल्प निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है और उसके लिए आवश्यक है शिक्षा के सभी स्तरों में पर्यावरण के प्रति सजग बनाये रखने का संकल्प।

---

१. यजुर्वेद, १३/२७-२९
२. यजुर्वेद, ३६/२२
३. यजुर्वेद, ३६/१८
४. अथर्ववेद, १९/१५/५-६

शिक्षा की दृष्टि से यम-नियम का महत्व

डा० गणेश शंकर अध्यक्ष, योग विभाग,
डा० हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म०प्र०) ४७०००३

शिक्षा का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। जीवन का आधार शिक्षा ही है। किसी व्यक्ति के जीवन में जैसी शिक्षा होती है वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होता है। धार्मिक शिक्षा से धार्मिक जीवन का और भौतिक शिक्षा से भौतिक जीवन का निर्माण होता है। अतः सदैव श्रेष्ठ शिक्षा को जीवन में उत्तम माना गया है। भारत वर्ष धर्म, संस्कृति, अध्यात्म और शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही अग्रण्य रहा है। यहां की आध्यात्मिक शिक्षा ने विश्व को समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व का दर्शन प्रदान कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना का प्रचार-प्रसार किया है। यह विडम्बना ही है कि आज भारत मे धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा का प्राय: लोप होता जा रहा है, महर्षि मनु, बाल्मीकि, व्यास, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, तुलसी और सूरदास आदि प्राचीन विद्वानों एव संत–महात्माओं से लेकर स्वामी विवेकानन्द, टैगौर, अरविन्द और गांधी जी आदि सभी विचारकों ने शिक्षा को परिभाषित करते हुये कहा कि इसके द्वारा बालक का न केवल शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक विकास होता है, वरन् आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक विकास भी होता है। वस्तुतः ऐसा होने पर ही सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः आज शिक्षा प्रणाली को इस प्रकार तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थियों का वास्तविक समग्र विकास हो सके। इस दृष्टि से शिक्षा के क्षेत्र में योग की समाहित चित्तता की महत्वपूर्ण भूमिका है।

महर्षि पतञ्जलि–प्रणीत योग दर्शन साधकों, भक्तों और उपासकों के लिए परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनों की भांति खण्डन–मण्डन न करके सरलता पूर्वक संयमित जीवन पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इसीलिए आज के युग में न केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्र मे योग के महत्व को स्वीकार किया गया है, वरन् शिक्षा के क्षेत्र में भी इसका महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

यद्यपि समाधि–पाद, साधन पाद, विभूतिपाद तथा कैवल्य पाद नाम से चार पादों में विभक्त पातञ्जल योग दर्शन मे समग्र जीवन पद्धति का चिन्तन हुआ है, तथापि साधनपाद मे प्रतिपादित अष्टांग योग मे इस शास्त्र का सम्पूर्ण सार–सर्वस्व निहित है, समस्त योग साधना इसी अष्टांग योग पर आधारित है। आत्म साक्षात्कार सम्पूर्ण योग–साधना का चरम फल है। उचित शिक्षा द्वारा इसी आत्म साक्षात्कार को प्राप्त करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। आज की शिक्षा प्रणाली मे इसकी उपादेयता को स्वीकार करते हुए योग को शिक्षा के विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करने की आवश्यकता है, किन्तु योगाभ्यास में केवल विभिन्न प्रकार के आसनों का अभ्यास करना ही आज प्रचलित होने के कारण इसका पूर्ण रहस्य अज्ञात ही बना रहता है और योग केवल ऐसा शारीरिक व्यायाम मात्र बनकर रह गया है जिसका उद्देश्य या तो शरीर को स्वस्थ रखना अथवा अनेक प्रकार के रोगों से मुक्ति प्राप्त करना है, किंतु वस्तु स्थिति यह नही है। यह तो योग का गौण उद्देश्य है। योग का मुख्य उद्देश्य है कैवल्य की प्राप्ति। विद्यार्थी तथा अध्यापक के लिए योग की उपादेयता इतनी अधिक है कि इसके अभाव मे आज की शिक्षा मे नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हो रहा है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में योग की आवश्यकता का वर्णन करते हुए उसके आठ अंगो मे से यम-नियमो के महत्व को यहां संक्षेप में बताया गया है।

अष्टांग योग के पीछे यही विचारधारा प्रतीत होती है कि व्यक्ति का मन कितने ही सामाजिक एवं व्यक्तिगत कारणों से अशुद्ध, अशान्त एवं बहुमुखी होता रहता है। इस लिए कुछ सामाजिक तथा व्यक्तिगत नियमो की स्थापना और उनका पालन आवश्यक समझा गया जिसके अभ्यास से मन शांत, शुद्ध, स्थिर और एकाग्र हो कर सुख का अनुभव कर सके। इसके अलावा ऐसे अभ्यास भी सम्मिलित किये गये जिनसे पूर्व अर्जित अशुद्धियों, तनावों आदि को भी समाप्त किया जा सके। इस प्रकार अष्टांग योग की इस विधि का आधार मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है।

अष्टांग योग के आठ अंगों के नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं :—

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा

(७) ध्यान (८) समाधि। इनमें से प्रथम ५ को बहिरंग योग और अन्तिम तीन अंगों को अन्तरंग योग भी कहा गया है। प्रस्तुत अध्याय में प्रथम दो अंगों "यम" और "नियम" पर विस्तृत विचार करेंगे।

यम:– मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। आपसी संबंधों के कारण व्यक्ति एक दूसरे से प्रभावित होता है। यह प्रभाव बुरा भी हो सकता है और अच्छा भी। सभी लोग सुखी और चैन से रह सकें इसलिए सामाजिक नियम बने। मन को योग की साधना में लगाने के लिये इन नियमों को और भी अनिवार्य समझा गया। इसलिए इन्हीं नियमों को आधार मानकर योग के पहले अंग को "यम" की संज्ञा दी गई। अष्टांग योग में "यमों" की संख्या पांच दी गयी है, जो निम्नलिखित है –

(१) अहिंसा :– अहिंसा का अर्थ है कि मन में किसी के लिये कोई बुरी भावना न लायें, मुंह से किसी को बुरे शब्द न कहें तथा कोई ऐसा काम भी न करें जिससे किसी अन्य को दुःख पहुंचे। यदि मन, वाणी या कर्म से किसी का बुरा किया जायेगा तो संभव है वह भी जवाबी कार्यवाही करें और ऐसा होने से दोनों पक्षों के मन अशुद्ध एवं अशान्त होंगे और ऐसी बातों से योग की साधना असंभव हो जायेगी।

जानवरों को अच्छा भोजन देकर दूध आदि प्राप्त करना, डाक्टरों का आपरेशन करके रोगी को ठीक करना, अध्यापक का छात्र को उसके सुधार के लिए ताड़ना, हिंसा नहीं अपितु अहिंसा ही है। क्योंकि ऐसे हर एक कर्म के पीछे भलाई की भावना है।

अहिंसा का पालन करने से मन शान्त व सुखी रहता है, इच्छा शक्ति बढ़ती है, आध्यात्मिक बल मिलता है और योग मार्ग में शीघ्र सफलता मिलती है।

(२) सत्य :– किसी बात को जैसा सुना हो, देखा हो या ज्ञान हुआ हो, वैसा ही कहना सत्य कहलाता है। पर ऐसी सच्ची बात जैसे अन्धे को अन्धा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने से दूसरे के मन को दुःख पहुंचता है।

इसलिए "सत्य" प्रिय ही होना चाहिये अप्रिय नहीं। इसी तरह दूसरे की जान बचाने के लिए असत्य बोलना भी ठीक है। सत्य में प्रियता और मधुरता होनी ही चाहिये। कथनी की भावना अच्छी होनी चाहिये।

सच बोलने से निर्भयता, सहनशीलता आदि गुण आते हैं। मन शान्त और आसानी से एकाग्र होने लगता है।

(२) **अस्तेय :—** अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। किसी दूसरे की वस्तु उसकी आज्ञा के बिना प्रयोग न करें। किसी से कोई बात न छिपायें, किसी दूसरे के अधिकारों को न छीने, अपने से छोटे और गरीबों को न सताना, रिश्वत न लेना, मिलावट न करना, कम न तोलना सभी अस्तेय में आते हैं। इसके विपरीत करने से समाज में उथल-पुथल और बैचेनी फैलती है जिससे योग की साधना कठिन होती जाती है।

अस्तेय के पालन के लिए हमें अपनी इच्छायें कम करनी चाहिये, दान करें ईमानदारी बरतें तथा स्वार्थी न बनकर परोपकारी बनें।

(४) **ब्रह्मचर्य :—** भारतीय संस्कृति में सामाजिक मान्यता के अनुसार विवाह करना और संतानोत्पत्ति पवित्र काम माना गया है। दूसरों की बहन-बेटी को अपनी बहन बेटी समझा जाता है। आजन्म शादी न करना अथवा केवल अपनी पत्नी से ही सम्भोग सम्बन्ध रखना ब्रह्मचर्य कहलाता है। सामाजिक नियमों के अनुसार न चलने से समाज में लड़ाई-झगड़े और कत्ल तक हो जाते हैं जिससे सामाजिक बेचैनी फैलती है और योग साधना का वातावरण नहीं बनता।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य के पालन से मन शुद्ध और एकाग्र रहता है, शरीर भी स्वस्थ और दीर्घायु बनता है जिससे योग साधना में सहायता मिलती है।

(५) ब्रह्मचर्य पालन के लिए भड़कीले कपड़े न पहनना, मसालेदार भोजन न करना, अश्लील पुस्तकें न पढ़ना, सिनेमा आदि न देखना, नित्य व्यायाम करना तथा अच्छी संगत में बैठना चाहिए। इन सब बातों से दृष्टिकोण और भावना अच्छी बनती है जिससे योग साधना में मदद मिलती है और सफलता भी।

(६) **अपरिग्रह :** आवश्यकता से अधिक सांसारिक वस्तु का संग्रह न करने और उनका भोग न करने को अपरिग्रह कहा गया है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करने से बाजार मे इन चीजो की कमी हो जाने से समाज में बेचैनी फैलती है क्योंकि दाम बढ जाते हैं। जमा करने से लोभ बढ़ता है, कम होने पर दुःख होता है। रख-रखाव की चिंता भी लगी रहती है।

अपरिग्रह के पालन से डर नहीं रहता है। सतोष की भावना पनपती है, चोरी करने की इच्छा नहीं होती, निराशा नही आती। सादा जीवन बिताने से मन शुद्ध व सुखी रहता है। वैराग्य और परोपकार की भावना भी पैदा होती।

नियम :- यमों का पालन करने से बाहरी वातावरण से योग साधना में कोई बाधा नही होती पर सभव है मन भीतर ही बेचैन रहने लगे और व्यक्ति स्वयं ही इसका उत्तरदायी हो इसीलिए अपनी निजी बेचैनी के कारणो को दूर करने के लिए योगा मे कुछ नियमो के पालन पर जोर दिया गया है। इन्हे व्यक्तिगत स्वस्थव्रत की सज्ञा दी जा सकती है। पतजलि द्वारा यमो की तरह नियमो की संख्या भी पाच दी गई है। ये निम्नलिखित है।

(१) **शौच :-** मन और शरीर की शुद्धि को शौच कहते है। नित्य स्नान करने, साफ कपड़े पहनने तथा शुद्ध भोजन करन से शारीरिक शुद्धि होनी है। इन सबके न करने से मन पर बुरा प्रभाव पडता है। इसके विपरीत किसी से घृणा, द्वेष, क्रोध, इच्छा तथा भय न होने से मन भी शुद्ध रहता है। शरीर और मन शुद्ध रहने से योग साधना मे सफलता शीघ्र मिलने लगती है। मन और शरीर की शुद्धि व्यक्ति की स्वयं की जिम्मेदारी है जिसके निभाने से योग के पथ में उत्तरोत्तर उन्नति होती है।

(२) **संतोष :** अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करने पर जो उपलब्धि हो उससे ही संतोष करना चाहिए। अपने यत्नों से ज्यादा इच्छा न करना ही संतोष है। संतोष को सब सुखों का मूल कहा गया है। भाग्य पर निर्भर करना, या आलस्यवश काम न करना सतोष नहीं कहलाता। इसलिए दृढ़ इच्छा से परिश्रम करके आगे

बढ़ते रहना चाहिए, इससे कोई रोक–टोक नहीं है। "संतोष" का पालन करने से शुद्ध और शांत मन सुख का अनुभव करता है।

(३) **तप :–** शरीर, इन्द्रियों और मन पर काबू रखने को तप कहते हैं। भूख–प्यास, गर्मी–सर्दी के सहन करने को शारीरिक तप और मान–अपमान, सुख–दुःख हार–जीत को सहने की शक्ति को मानसिक तप कहते हैं। इसके पालन से मन और तन बलवान् बनते है जिससे योग मार्ग पर चलना आसान हो जाता है।

(४) **स्वाध्याय :–** नित्य प्रति गीता, रामायण, गुरुग्रन्थ साहब आदि का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। उनमें बताये गये सद्मार्गों का ज्ञान होता है, अच्छे विचार बने रहते हैं तथा उन उसूलों पर चलने की प्रेरणा मिलती है। व्यवहार में अच्छा परिवर्तन आ जाता है। मन में पवित्र विचारों के रहने से सुख और शांति मिलती है तथा मन शान्त, शुद्ध एवं एकाग्र आसानी से हो जाता है जो योग साधना के लिए अनिवार्य है।

(५) **ईश्वर प्रणिधान :–** परमात्मा में श्रद्धा और विश्वास तथा नित्य प्रति पाठ–पूजा करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है ऐसा करने से अपने में विश्वास की धारणा पैदा होती है, बुरे कर्मों से मन हटने लगता है, अच्छे कामों को करने में उत्साह जाग्रत होता है और सबके प्रति अच्छी भावना रहने के कारण मन शान्त एवं शुद्ध बना रहता है।

अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पांच यम हैं। इन पांचो यमों की आज की शिक्षा में महती आवश्यकता है। आज छात्रों के जीवन में जो अव्यवस्था, कुण्ठा, हिंसा, अनुशासनहीनता, उपेक्षा, निराशा, असंयम, अशान्ति और छल-कपट आदि दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं। उसके मूल में योग के इस प्रथम अंग "यम" को छात्रों द्वारा अपने आचरण में न लाना ही है। आज की शिक्षा में छात्रों को संयमी बनाने का प्रयास न होने से ही युवकों में धर्म संस्कृति और अध्यात्म से हटने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है, आज

शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर पाठ्यक्रम में इन पांचों यमों को छात्रों तथा अध्यापकों के जीवन में धारण कराने का प्रावधान होना चाहिये, समुचित दिशा में व्यवहार परिवर्तन करने का शिक्षा का कार्य तभी पूर्ण होगा, जब छात्र और अध्यापक दोनों ही अहिंसक, सत्यवादी, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले तथा अपरिग्रही होंगे। इसी प्रकार छात्रों का आहार-विहार और विचार दूषित होना आज की शिक्षा का अभिशाप बन गया है, अतः शौच पालन की ओर छात्रों को प्रेरित करने की बड़ी आवश्यकता है। आज की शिक्षा भी छात्रों और अध्यापकों तथा समाज में असंतोष को बढ़ा रही है। छात्रों में व्याप्त असंतोष की अभिव्यक्ति समय-समय पर अनेक प्रकार के आन्दोलन के रूप में होती रहती है, ऐसी परिस्थिति में छात्रों द्वारा संतोष नियम का पालन करने से शिक्षा जगत् में व्याप्त अशान्ति के शमन में सहायता मिल सकती है तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का मानव-जीवन में विशेष रूप से छात्रों के लिए अत्यधिक महत्व है क्योंकि इनसे अच्छे मानव का निर्माण हो सकता है, आज की शिक्षा का भी उद्देश्य है-अच्छे मानव का निर्माण। छात्रों को ऊंचा उठने के लिए कठोर परिश्रमी, अध्ययनशील और ईश्वर भक्त बनने की प्रेरणा इन तीनों साधनों से लेनी चाहिए।

इस प्रकार यम और नियमों के नित्यप्रति पालन से आज की शिक्षा में नैतिक मूल्यों में उत्थान तो होगा ही, साथ ही छात्र एवं छात्राओं और अध्यापक वर्ग के लिए अपने जीवन में आगे बढ़ने में सफलता मिलेगी, जितना पालन करेंगे उतनी ही सफलता और सुख मिलेगा।

समकालीन शिक्षा एवं मूल्य

डा० विभा गौड, अध्यक्ष दर्शन शास्त्र विभाग
है० न० ब० गढ विश्वविद्यालय, श्री नगर, गढ़वाल

यह सत्य तथा निर्विवाद भी है कि किसी भी राष्ट्र के विकास में शिक्षा, शिक्षा पद्धति, शैक्षणिक पर्यावरण (Educational situations) तथा मानव मूल्यों का विशेष स्थान होता है। यह बात अलग है कि किसी भी राष्ट्र में शिक्षा को किस रूप में ग्रहण किया जाता हैं अथवा शिक्षा किस प्रकार से दी जाती हैं कैसे वातावरण या माहौल में दी जाती है ? क्या इसका स्वरूप अपरिवर्तनशील है ? यदि है तो इसका स्वरुप क्या है ? यदि नहीं तो कौन से ऐसे तत्व हैं जो इसके स्वभाव को प्रभावित करते हुए इसे परिवर्तनशील बना देते हैं ?

शिक्षा क्या है ? शिक्षा शब्द का प्रयोग कभी विस्तृत तथा कभी बहुत संकीर्ण अर्थ में किया जाता है। विस्तृत अर्थ में प्रत्येक मनुष्य के अनुभव को शिक्षा कहा जा सकता है। अर्थात् अपने अनुभवों से जो कुछ भी सीखा जाए, उस सब को हम शिक्षा की कोटि में रख सकते है। दूसरे शब्दों में "समस्त मानव जीवन ही शिक्षा है"।

संकीर्ण अर्थ में शिक्षा किसी निश्चित समाज या समुदाय की उस व्यवस्था तक सीमित हैं जहां नियन्त्रित परिस्थिति में मात्र अनौपचारिकता सिखायी जाती है। स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा को हम इस कोटि में रख सकते। शायद यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महापुरुषों ने विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा के प्रति कोई रूचि नहीं दिखाई। यही नहीं प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन तथा राबर्ट क्लाइव अपने विद्यालय में मूर्ख समझे जाते थे।

महान् दार्शनिक पेस्टालॉजी ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है :—

'मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों का प्राकृतिक और प्रगतिशील विकास ही शिक्षा है। वास्तव में किसी व्यक्ति पर उस के व्यवहार विचार और धारणाओं में स्थायी परिवर्तन करने वाले वातावरण [Environment] का प्रभाव ही शिक्षा है। एक दूसरे अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य यह है कि बालक विद्यार्थियों, शिक्षकों या मानव के शरीर,

मन और आत्मा के व्यापक श्रेष्ठ तत्त्व विकसित करने का प्रयास ही शिक्षा पद्धति का अच्छा वातावरण कहा जा सकता है।

अथर्ववेद के अनुसार शिक्षा एवं शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा बालक या मनुष्य को इस योग्य बनाया जा सके कि उस में श्रद्धा और मेधा उत्पन्न हो, वह संतति का उत्पादन कर सके तथा धन आदि अमृत तत्त्व प्राप्त कर सकें।

मुझे ऐसा लगता है कि शिक्षा का अर्थ एक ऐसे सामर्थ्य से है जो किसी भी व्यक्ति देश व समाज के नैतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक उत्थान मे सक्षम हो तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः शिक्षा वह कला है जो किसी व्यक्ति समाज या राष्ट्र में निहित बुराईयों को मिटाती हुई उनको विकासोन्मुखी बनाती है।

मेरे विचार में शिक्षा का स्वभाव अपरिवर्तनशील है। इसको सही परिप्रेक्ष्य में न समझने से ही हम इसके स्वभाव को परिवर्तनशील समझ बैठते है। कतिपय विद्वान् शिक्षा व्यवस्था की चर्चा करते हुये शिक्षा व्यवस्था (Education system) की जगह शिक्षा को ही परिवर्तनशील बताने लगते है, लेकिन ऐसा उचित नहीं है। यदि कोई शिक्षा, सही मायने में शिक्षा है तो उस को सार्वभौम होना चाहिये।

वर्तमान समय में ऐसी धारणा बन चुकी है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान (bookish knowledge) को ही शिक्षा समझा जाने लगा है। शिक्षक के व्यक्तित्व को ही शिक्षार्थी के सर्वांगीण विकास के लिये उत्तरदायी बताया जाता है। वस्तुतः मैं इस विचार से असहमति प्रकट करते हुये, इस विचारधारा को एक आवश्यक बुराई समझती हूं। मेरी यह असहमति वर्तमान ही नही अपितु उस प्राचीन विचारधारा से भी है जिसके अन्तर्गत भारतीय गुरु शिष्य का दाहिना हाथ पकड़ कर पूछते थे कि तुम्हारा नाम क्या है ? (किम् नामासि) और वह कुमार कहता था (असौ अहम् भोः) मैं अमुक हूं। पुनः गुरु पूछते थे कि तुम किसके ब्रह्मचारी हो (कस्य ब्रह्मचार्यसि) वह कुमार कहता था (भवतः) आपका। इस साक्षात्कार के उपरान्त बालक को विद्यालय में प्रवेश हो जाता था और अन्त में दीक्षा दिये जाने के बाद गुरु कहते थे कि तुम्हारा और मेरा मन एक हो गया। इस प्रकार जीवन पर्यन्त के लिये शिष्य गुरु का

सेवक बन जाता था।

उपरोक्त शिक्षा व्यवस्था के अन्दर शिक्षार्थी के स्वच्छन्द विकास तथा उसमें नवीन कल्पनाओं का अभाव ही परिलक्षित होता है। यहां यह भी उल्लेखनीय हैं कि शिक्षा और विद्या (Institution & Education) प्रबोधन या ज्ञान संस्कार पर्यायवाची या समानार्थी शब्द नहीं हैं। हम उदाहरण के द्वारा इनके अन्तर को समझ सकते हैं। सर्कस के हाथी घोड़ों आदि का अपने मनुष्य शिक्षक के आदेश के अनुसार अनुकरण (Instruction) शिक्षा है जबकि प्रबोधन शिक्षा से नहीं बल्कि विद्या से प्राप्त होते हैं। सर्कस के उपरोक्त जानवरों को हम शिक्षा दे सकते हैं परन्तु वेद रामायण या ज्योतिष नहीं समझा सकते हैं। क्योंकि दर्शन आदि तत्त्व बोध के अंग है। यह विद्या, उपदेश, अनुभव, अध्ययन और अभ्यास से आती है। इस विद्या का जीवन में समय अनुकूल कल्याणकारी व्यवहार ही शिक्षा व्यवस्था (Education system) है। वर्तमान समय मे शिक्षा के व्यापक प्रयोग के कारण हम सब इस का प्रयोग शिक्षण तथा अध्यापन दोनों के लिये करने लगे है।

शिक्षा एवं विद्या आदि शब्दों पर गहराई से विचार करते हुये हम कह सकते है कि वर्तमान समय में विभिन्न शिक्षण सस्थानों में हम शिक्षण कार्य करते हैं, अध्यापन कार्य नहीं। यही कारण है कि आज के शिक्षक एवं विद्यार्थी मात्र पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित रहते हैं। यदि विद्या शब्द की गरिमा को समझते हुये हम अध्ययन अध्यापन के महत्त्व को भी समझ सकें और इसे व्यवहारिक रूप दे सकें तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम विभिन्न विद्यालयों में, विश्वविद्यालयों तथा समाज में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता को काफी हद तक रोक (समाप्त) कर सकते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें अपनी शिक्षा व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान देना होगा। विद्यार्थियों की वैध तथा अवैध उपायों से परीक्षा उत्तीर्ण करने की होड़ तथा निर्धारित पाठ्यक्रमों के माध्यम से प्रमाण पत्र प्राप्त करने की दौड़ को समीचीन बनाना होगा। ऐसा करने के लिये हमें शैक्षिणिक पाठ्यक्रम को अधिक मूल्यात्मक एवं समयानुकूल बनाना होगा तथा शिक्षा व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन करना होगा।

शिक्षा के सन्दर्भ में जब हम मूल्य शब्द की बात करते हैं तो इसका अर्थ उस लक्ष्य की ओर इशारा करना होगा है जिसको प्राप्त कर लेने पर प्रत्येक विद्यार्थी सन्तोष का अनुभव करने लगें। कहने का अर्थ यह है कि विद्या ग्रहण करने के बाद विद्यार्थी स्वयं के प्रति, देश के प्रति और सम्पूर्ण मानव के प्रति जागरूकता तथा कर्त्तव्य अकर्तव्य का प्रादुर्भाव हो सके क्योंकि शिक्षा ही नैतिक सामाजिक और आर्थिक सफलताओं की कुंजी है।

किसी भी समाज के सर्वांगीण विकास के लिये योजनाबद्ध शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान सरकार की इस दिशा में काम तथा अधिक धन की व्यवस्था सराहनीय है। यह अलग बात है कि इस विषय में कार्यरत प्रशासनिक तथा शिक्षाशास्त्री किस प्रकार की शैक्षिणिक व्यवस्था का प्रावधान करें और इसके लिये आंवटित धनराशि को किस प्रकार से कम करे। वर्तमान योजना के अन्तर्गत शिक्षा के लिये अधिक धन आंवटित करने का उद्देश्य शायद शिक्षा को अधिक महत्त्व देना ही रहा होगा। क्योंकि इस सत्य को छुपाया नहीं जा सकता है कि किसी भी समाज की उचित व्यवस्था और सर्वांगीण विकास के लिये शिक्षा उसकी आवश्यकताओं मे अग्रगण्य है। इस प्रकार किसी भी उन्नत समाज के लिये शिक्षा की मौलिक भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। शिक्षा में सचारणशीलता (Transnissiblity) के अतिरिक्त भविष्य के लिये सुनहरा आधार तैयार करने की क्षमता भी होती है। किसी भी समाज में क्रान्तिकारी उन्नति लाने का श्रेय शिक्षा या शिक्षाविदों को ही जाता है। या यों कहा जाए की किसी भी समाज की सम्पन्नता को बढ़ाना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होता है। हमारे देश में विभिन्न शिक्षा सम्प्रदायों, केन्द्र तथा प्रदेशों और शिक्षाविदों तथा शिक्षार्थियों के मध्य शिक्षा के सम्बन्धी व्यवस्थाओं में उचित तालमेल की कमी के कारण शिक्षा के क्रान्तिकारी-परिणाम नहीं मिल सके है। अपने राष्ट्र की उन्नति और एकता के लिए, स्वतन्त्रता के लिए लगभग चालीस वर्षों के अन्तराल मे भी हम एक राष्ट्र भाषा नहीं अपना सके हैं। विभिन्न सरकारी विद्यालयों तथा गैर सरकारी विद्यालयों के स्तरों में बहुत बड़ा अन्तर आज भी स्पष्ट दिखाई देता है। पब्लिक स्कूलों से पढ़े हुये बच्चों की अपेक्षा अधिक प्रखर

पाये जाते है यथा ये ही विद्यार्थी अधिकांश रूप में प्रशासनिक तथा अन्य उच्चपदों पर नियुक्त होते हैं। मैं नहीं समझती कि मूल रूप से इन विद्यार्थियों के बुद्धि के स्तर में कोई अन्तर होता है। शायद इसका कारण सरकारी विद्यालयों में पढ़ाने वाले शिक्षकों का अपने कर्त्तव्य पालन में अनुदारता ही है। अत: शिक्षा के उचित प्रसार में अध्यापकों की भूमिका को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता है।

लेकिन अपने कर्त्तव्यों के प्रति अनुदारता तथा अकर्मण्यता के लिये केवल शिक्षकों को ही दोष देना उचित नहीं होगा। उचित उन्नति के अवसरों, अच्छे वेतन तथा अन्य आवश्यक सुविधाओं के अभाव में शिक्षक ही नहीं कोई भी कर्मचारी अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हो सकता है। श्रम की गतिशीलता के माध्यम से इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा संचालित परीक्षायें मात्र स्मृति परीक्षा रह गयी है। और यदि यह कहा जाए कि ये परीक्षायें परीक्षा की औपचारिकता या खानापूर्ति मात्र है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उदाहरण के लिये विद्यार्थी को अध्यापक द्वारा कक्षा में समानता या लोकतन्त्र आदि का जो अर्थ समझाया गया पूछे जाने पर यदि विद्यार्थी अपनी स्मृति से परीक्षा में उसी अर्थ की पुनरावृत्ति कर देता है या नकल आदि माध्यम से अध्यापक द्वारा कही गयी बात या पुस्तकों में लिखी बात को लिख देता है तो वह शत-प्रतिशत अंक ले जाता है। यही क्रम सदा बना रहता है। यदि आरम्भ से ही विद्यार्थी को विश्लेषणात्मक या आलोचनात्मक उत्तर के लिये प्रेरित किया जाए तो हमें बहुत सारी नयी प्रतिभाओं का पता चल सकता है। अन्त में मैं यह कहना चाहूंगी कि शिक्षा के लिये भी एक प्रदूषण रहित माहौल environment की अनिवार्य आवश्यकता होती है। शिक्षा पद्धति में वातावरण का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि बिना शैक्षणिक वातावरण के शिक्षा की बात भी नहीं की जा सकती है। जहां तक मूल्यों का प्रश्न है। मैं इतना ही कहूंगी कि इसकी परिभाषा करना कठिन है – फिर भी मैं ऐसा समझती हूं कि किसी भी तरफ (Fact) के निश्चित ज्ञान (Definite awareness) से प्रेरित (prompted) होकर अपनी जिज्ञासा अथवा इच्छा (desire) की पूर्ति के लिये

अपने कर्मों के द्वारा उस ईष्ट तथ्य (साध्य End) की प्राप्ति यदि हो जाए तो वह 'तथ्य' मूल्य में परिवर्तन हो जाता है।

अर्थात् मूल्य तथ्यों से उत्पन्न किये जाते है। यही कारण है कि मूल्य भी विभिन्न प्रकार के है, वे परिवर्तनशील है। मूल्य वह आदर्श अथवा तथ्य है जो प्राप्य हो। कई परिस्थितियो में मूल्य प्राप्ति का प्रयास भी मूल्य होता है। अर्थात् मूल्य साधन एवं साध्य दोनों ही हो सकता है। आधुनिक शिक्षा पद्धति curriculur द्वारा अधिकाधिक मूल्यों की प्राप्ति हो, इसके लिये आवश्यक है ऐसे पाठ्यक्रम तैयार किये जाएं तथा पठन-पाठन का ऐसा वातावरण तैयार किया जाए जिससे शिक्षार्थी को विभिन्न तथ्यों एवं आदर्शों का अधिकाधिक ज्ञान हो तथा शिक्षार्थी उन तथ्यों एवं आदर्शों को मूल्य रूप में प्राप्त कर सकें।

(पर्यावरण-प्रदूषण, असंतुलन, तज्जन्य दुष्प्रभाव एवं उसके निवारण का वैदिक उपाय)

लेखक–डा० दिनेशचन्द्र धर्ममार्तण्ड,
वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी वि० वि०, हरिद्वार

यह निर्विवाद सत्य है कि समस्त प्राणियों के माता-पिता स्वरूप परमेश्वर[1] ने काल दिशा, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी एवं पृथिवी पर अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों को अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मनुष्य[2] को उत्पन्न करने से पूर्व बनाया।

ये कालादि सात पदार्थ प्रकृतिजन्य सात पर्यावरण हैं अर्थात् परि=चारों ओर से आवरण=आच्छादन हैं।[3] इसलिये जिसवर्ट ने पर्यावण की परिभाषा निश्चित करते हुये लिखा है कि 'प्रत्येक वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरती है एवं उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है, पर्यावरण है[4]।" जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के पर्यावरण पृथिवी से लेकर सूत्रात्मा वायु तक सात हैं, जिन्हें विज्ञान ट्रोपोस्फीयर, स्ट्रेटोस्फीयर, आयनोस्फीयर फोटोस्फीयर, क्रोमोस्फीयर, हाइड्रोस्फीयर, लीथोस्फीयर आदि (सात) नामों से कहता है,[5] उसी प्रकार इस पिण्ड (शरीर) में भी सात पर्यावरण रस,

---

१. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथः।
अधा ते सुम्नमीमहे" ॥ ऋ. ८/९८/॥

२. नहि मनुजात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चत् (महाभारत) ॥

३. (पर्यावरण" शब्द परि और आङ् उपसर्ग पूर्वक वरणार्थक वृङ् एवं वृञ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका व्युत्पत्ति परक अर्थ-परि=सर्वतो भाव (चारों ओर), आङ् = सामान्यतः सामने, आवरण = ढकना, आच्छादन करना होता है।

४. स॰ वै. सो. सं. मेरठ द्वारा सम्पादित "पावमानी" का पर्यावरण विशेषांक, भाग–१, मेषसंक्रांति चैत्र २०४७, पृष्ठ ६५

५. See " Atmosphere " in the columbia Encyclopedia, one volume, 2nd edition, New yorK, Page 116, 1917 and Encyclopedia Britannica, volume–?, Page 700 to 702.

रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र हैं[6] वसुमती (पृथिवी) भी सप्तद्वीपा है। सूर्य की सातरंगी किरणों तथा वायु के भी ७ × ७ = ४६ भेद होते हैं[7]। भगवती श्रुति में इसी को बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है— सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ (ऋक्. १०/९०/१५यजु. ३१/१५)

मन्त्र का भावार्थ यह है कि संसार की सात परिधियां हैं, इक्कीस समिधायें हैं। देव लोग पुरुष की रक्षा के लिए सृष्टि के आदि काल से यज्ञ का विस्तार कर रहे हैं।

इस मंत्र में न केवल परिधियां (पर्यावरण) ही बताई गयीं अपितु २१ समिधाओं को लेकर परिधियों की सुरक्षा के लिए यज्ञ विद्या का भी संकेत कर दिया गया है। अथर्ववेद के अनुसार यह संसार परिधि के सहारे टिका हुआ है। यह परिधि छन्दस् भी कहलाती है—

त्रीणि छन्दांसि कवयो विमेतिरे, पुरूरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधय, तान्ये कस्मिन् भुवन अर्पिनि॥ (अथर्व: १८/१/१७)

अर्थात्, तीन वस्तुएं जो इस विश्व को आवृत किये हुये हैं, वे हैं–आप : यानि जल, वातः यानि वायु ओषधयः यानि पौधे। ये जीवन के लिए ऊर्जा देते हैं और इस की रक्षा करते हैं। वास्तव में ये तीनों ही मानव के अस्तित्व के लिए परमावश्यक हैं।

वेद में एक और शब्द आता है– 'अन्तर्धि।' अन्तर्धि का अर्थ है आन्तरिक शक्ति। प्रकृति के प्रत्येक कण में (आन्तरिक शक्ति) और परिधि (बाह्यशक्ति) होती है। अन्तर्धि इसे गति और ऊर्जा देती है और परिधि इसकी रक्षा करती है—

अन्तर्धिर्देवानां परिधिमर्नुष्याणाम्। (अथर्व. १२/२/४४)

---

६. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥ च. स. चि. स्था. अ० १५/१६

७. यजुर्वेद ३९/७ ब्रह्माण्ड से सम्बंध रखने वाले ४६ प्रकार के मरूद्गण नामक वायु वर्णित हैं—

उग्रश्च भीमश्च ध्वनिश्च।
सासह्वाश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥

शतपथ ब्रा० (६.११.१.२६.) में भी उंचास तरह के मरूतों का वर्णन मिलता है।

अर्थात् इस परिधि का उद्देश्य जीवन की रक्षा के लिए है। यदि यह पर्यावरण सुरक्षित रहे, तो समस्त मानव-जीवन स्थायी रहेगा।

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्व: पुरुष: पशु:।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधि जीऽवनाय कम्॥ अथर्व० ८/२/२५

इन परिधियों के प्रदूषित होने पर मनुष्य, पशु वनस्पति, आदि सभी का बिनाश सम्भव है। पर्यावरण में सभी भौतिक और अभौतिक एवं मानव रचित वस्तुएं सम्मिलित हैं। जो उसे प्रभावित करती हैं-। सम्पूर्ण पर्यावरण तीन प्रकार का माना गया है[8]—
१. प्राकृतिक पर्यावरण २. सामाजिक पर्यावरण ३. सांस्कृतिक पर्यावरण। वेदों मे इन त्रिविध पर्यावरण को शुद्ध करने और प्रदूषण का निवारण करने के लिए सतत उपदेश दिये गये हैं। विस्तार भय से प्रस्तुत लेख में केवल प्राकृतिक पर्यावरण को लक्ष्य करके कुछ तथ्य उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। प्रसंग से आपाततः इतर पर्यावरण का भी निर्देश किया गया है।

प्रकृति अत्यन्त ही उदार है तथा वह हमारी सभी आधारभुत सुविधाओं एवं आवश्यकताओं जैसे भोजन, कपड़ा, जल तथा मकान आदि की पूर्ति करती है। परन्तु भौतिकवाद के इस युग में मानव ने प्रकृति के साथ जो क्रूर मजाक किये हैं, उनसे रुष्ट होकर शायद प्रकृति ने अब अपना क्रोध दिखाना प्रारम्भ कर दिया है। मानव हस्तक्षेप के कारण जीवन—चक्र[9] मे असंतुलन बढ़ता जा रहा है और उसके फलस्वरूप कुछ गम्भीर सकट पैदा हो गया है। इस कारण सम्भावना है कि अगले कुछ दशकों मे वायु मण्डल विषाक्त हो जायेगा। पृथिवी, जल, वायु सभी दूषित हो जायेगें। पीने योग्य पानी व खाने के लिए शुद्ध अनाज न मिलने से अनेकानेक रोग हो जाएगें। अत: जीव जन्तुओं

---

८. स. वै, शो. सं. मेरठ, पावमानी पर्यावरण विशेषांक, भाग-१ चैत्र २०४७, पृष्ठ ६५

९. जीवन (संसार) (एक चक्र) (सर्किल) है एक वस्तु जैसे कार्बनडाई आक्साईड प्राणियों को घातक है तो वह बनस्पति का भोजन है। और उसे खाकर वनस्पतियां प्राणवायु देती हैं। अर्थात् मानव आदि प्राणी वनस्पति पर और वनस्पति मनुष्य (के श्वास) पर आश्रित है। (पं प्र. की. वै. चि., आ., बि. मिश्र बदायूं)।

को घुट–२ मरने को विवश होना पड़ेगा। पर्यावरण विशेषज्ञों का मानना है कि इस असतुंलन से जल प्रलय व हिम युग जैसी विभीषिका तथा प्रलंयकर सूखे एवं प्रकोपकारी भूकम्पों की आशंका बढ़ जायेगी। अंधाधुन्द औद्योगीकरण के कारण, कोयला, तेल व अन्य प्रदूषित इंधनों के बढते प्रयोग, जनसंख्या का घनत्व बढ़ने एवं वनाच्छिादित क्षेत्रों के कम होने से[10] कार्वनडाई आक्साईड की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होने से[11] वैज्ञानिकों के अनुसार इस शताब्दी के अन्त में तापक्रम बढने से विश्व की जलवायु में भारी परिवर्तन होगें। इससे ध्रुवीय बर्फ पिघलजाने एवं समुद्र में उफान जैसी स्थिति आने पर पृथिवी के बड़े भाग के जलमग्न होने की आशंका हैं।

पर्यावरण के प्रदूषित होने से ओजोन की लेयर (पर्त) फटती जा रही है। जिसका क्षेत्र कभी फुटबाल के बर'बर था आज वह छिद्रित क्षेत्र अफीका महाद्वीप के बराबर है। इस लेयर के ठीक होने पर सूर्य से अ ने वाली पराबैंगनी अल्ट्र.वायरस नामक प्राणघातक किरणें भूमि तक नहीं आने पाती। लेयर (पर्त) के फट जाने से किसी भविष्य काल में पृथिवी पर अधिक तापादि के द्वारा वनस्पति अ.दि सभी का विनाश हो सकता है अत: उसी लेयर की रिपेयर (मरम्मत) के विषय में वैज्ञानिक अतितरां चिन्तित हैं। ओयोज परत में छिद्र के बढने से सम्भावित खतरों के बारे में प्रमुख औद्योगिक सम्पन्न राष्ट्रों ने सितम्बर १९८७ मे माट्रियल तथा १९९२ मे रियोडिजेनेरो में सम्पन्न विश्व सम्मेलन में यह तय किया है कि सन् २००० तक चरणबद्ध ढंग से इस समस्या पर नियंणत्र कर लिया जायेगा।

आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों ने निम्नांकित रूप में इन (प्राकृतिक) प्रदूषणों की

---

१०. विश्व में लगभग ६ करोड हेक्टेयर क्षेत्र के वनो का प्रतिवर्ष विनाश होता है। भारत में ही प्रतिवर्ष सोलह लाख हेक्टेयर क्षेत्र में वन काटे जा रहे हैं, जिससे भारत में अब मात्र १९% प्रतिशत भू भाग में ही वन शेष हैं।
(अमर उजाला, दैनिक समाचार पत्र, मेरठ संस्करण ६ फरवरी १९९४, पृष्ठ ६)

११. एक अनुमान के अनुसार पिछले एक सौ वर्षों में लगभग चालीस हजार करोड टन कार्बनडाई आक्साईड गैस उत्पन्न हुई है अमेरिका स्थित 'वुड्स रिसर्चसेन्टर, मेसाचुऐट्स'' की एक रिपोट के अनुसार लगभग एक खराब टन से २.३ खराब टन के माध्यम कार्बनडाई आक्साईड गैस प्रतिवर्ष वायु मंडल में पहुंचती रही है। (वही)

चर्चा की है। यथा – १. मृदा (मिट्टी) प्रदूषण, २. जल प्रदूषण, ३. वायु प्रदूषण, ४. रेडियो धर्मी-प्रदूषण, ५. ध्वनि–प्रदूषण, और ६. भाव (बुद्धि,मन) प्रदूषण।

दीर्घ काल तक आत्मा (मन, बुद्धि, जीवात्मा) की सत्ता न मानने वाले वैज्ञानिकों ने इस प्रदूषण की चर्चा की कभी अनुभूति नहीं की जो कि सबसे प्रधान प्रदूषण है क्योंकि मानव की बहुमूल्य सम्पत्ति तो भाव, भावना या विचार ही हैं।[12] विचार के विषय में जैसा कि इस संगोष्ठी के प्रथम सत्र के अध्यक्ष डा० विजयेन्द्र स्नातक ने भी स्पष्ठ किया है।

ऋग्वेद में प्रदूषण की समस्या का विभाजन करते हुए कहा गया है कि ऊपरी भाग की समस्या को सूर्य, मध्य भाग की समस्या को वायु तथा नीचे के भाग की समस्या को अग्नि हल करता है[13]।

ऋषि लोग मानव की शक्ति को जानते थे और साथ ही उसकी दुर्बलताओं को भी। यह कहना तो ठीक है कि वैदिक काल में क्योंकि सृष्टि साम्यावस्था में थी– जीवनयापन की अनुकूलतम अवस्था में थी,[14] या यों कहें कि तत्कालीन वातावरण पूर्ण व्यवस्थित था अत: उस समय पर्यावरण–प्रदूषण जैसी कोई समस्या नहीं थी, तथापि मानव स्वभाव को जानने वाले (क्रान्तदर्शी) ऋषियों ने वंदिक वाङ्मय में जीवन की इस प्रकार की व्याख्या की है, जिससे पर्यावरण–प्रदूषण की समस्या उत्पन्न ही न होने पाये। या, आगे चलकर उत्पत्स्यमान समस्या के प्रति मानव को पहिले से ही सचेत कर दिया है कि ऐ मानव, इन-२ वस्तुओं को न छेड़ना, इन्हें बिड़गने न देना, इनका संतुलन बनाये रखना अन्यथा तेरा जीवक नष्ट हो जायेगा। यजु० के ३६/१७ मन्त्र में ऋषि ने इस प्रकार की ६ वस्तुओं या अंगों की ओर संकेत किया है।

भूयोविद्य वनकर जब हम वेदों का पर्यालोकन करते हैं तो हमें आधुनिक पर्यावरण

---

१२. आ. स. अलमोडा द्वारा संपादित पत्रिका (नाम और वर्ष अज्ञात) में आ. विशुद्धानन्द मिश्र कालेखा पर्यावरण प्रदूषण की वै चि.।

१३. सूर्यो नो दिवस्पातु, वातो अन्तरिक्षात्।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्य: ।। (१०/१५८/२)

१४. पावमानी, प्र० भाग पृ० ३०

प्रदूषण के अनेक समाधान वेदों में मिलते हैं। जैसे आंधी, वर्षा और सूर्य द्वारा पर्यावरण-शोधन, अग्निहोत्र द्वारा पर्यावरण-शोधन, वनस्पति उगाना, शब्दशक्ति या रेडियो तरंगों का प्रयोग, प्रकृति के रुद्र और शिव रूपों की संकल्पना, प्रकृति में अग्नि और सोम तत्वों को संतुलित करना तथा शस्य-प्रभाव (Green house) आदि।

यहां हम इनमें सबसे प्रमुख, सर्वसम्मत और वैज्ञानिक एकमेव अमोघ उपाय अग्निहोत्र का वर्णन करना चाहेंगे।

आज से लाखों वर्ष पूर्व ऋषि, देव और विद्वानों ने उपर्युक्त प्रदूषणों, असंतुलन अन्य दुष्प्रभावों से बचने, और इन पर्यावरणों (परिस्थियों) की रक्षा के लिए यज्ञप्रथा का आविष्कार और प्रचलन किया था। इस मानव के पिता परमात्मा ने भी तो सृष्टिचक्र के रक्षार्थ "बसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइधतः शरदहविः"[15] अर्थात् बसन्त घृत, ग्रीष्म समिधा और शृणाति हिनस्ति प्रदूषणमिति शरद-ऋतु हवि (साकल्य) का वर्णन किया है।

यज्ञ (हवन) अर्थात् देवदूत[16] पंचभूतों की मध्यस्थ देवता अग्नि, उसमें डाला हुआ चारों प्रकार का सुगंधित, पुष्टिकारक, मिष्ट और रोगनाशक रूप यज्ञद्रव्य[17], मिट्टी, जल वायु, ध्वनि (आकाश) रेडियोऐटिव प्रदूषणों अर्थात् नागासाकी, हिरोशिमा मे परीक्षित तथा पीढ़ी दर पीढ़ी तक लंगडे, लूले, अन्धे, काने आदि बनाने वाला प्रदूषण ध्वनि तथा भाव (हृदय) प्रदूषण को अकेला ही दूर कर सकता है। देखिये, कैसे? अग्नि में डाली आहुति (घी, द्रव्य) से मिट्टी, जल वायु का प्रदूषण मन्त्रोच्चारण से ध्वनि-प्रदूषण और उन मन्त्राशों के द्वारा भाव का प्रदूषण दूर होता है। इसी लिए कहा गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

१५. ऋग्. १०/९० १४, यजु० ३१/१४
१६. अग्नि दूतं वृणीमहे। (ऋग्.)
१७. संस्कारविधि, स्वा. दयानन्द सरस्वती, सामान्य प्रकरण।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। मनु ३/७६

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।।
अनेन प्रसविष्यध्वमेत वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। भगवद्गीता ३/१०

अर्थात् प्रजा को यज्ञों को साथ देकर, प्रभु ने उत्पन्न किया कि मेरे बेटो । यह यज्ञ सब मनोरथों का पूरक है, इसी के द्वारा तुम फलोगे और फूलोगे । इस प्रकार अग्नि में दी गयी आहुति सूर्य तक जा कर वृष्टि और अन्न को उत्पन्न करती है ।

अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि पुरुष से पशु, पशु से वनस्पति, वनस्पति से वृष्टि, वृष्टि से यज्ञ (अन्नादि की उत्पत्ति द्वारा) पुनः यज्ञ (सृष्टियज्ञ) से पुरुष आदि क्रम से अन्त में यज्ञ । यह चक्र शाश्वत है ।

अग्निहोत्र वायु, जल, मिट्टी, वनस्पति आदि सभी के प्रदूषण को दूर करने में सहायक होता है । ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के सैकडों मंत्रों में यज्ञों के द्वारा वायुमंडल की सुद्धि की चर्चा है । बार-२ अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि अनेक रोगों से मुक्त कराये, वायु के कृमि (worms) आदि को नष्ट करें । अग्नि में होम किये अनेक प्रकार के रोग नाशकगुणयुक्त तथा सुगंधयुक्त पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुंआ जल—वायु के दोषों अथवा विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है ।

वैदिक विधि से किया गया यज्ञ श्वास रोग, राजयक्ष्मा, खांसी, दमा आदि दूर करने में सहायक है । मैडिकल सांइस की अनेक खोजों से प्रमाणित हुआ है कि यज्ञ में घृत के साथ शर्करा की आहुति देने पर वायु में विद्यमान प्लेग रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं । आचार्य श्रीराम शर्मा द्वारा किये गये वैज्ञानिक प्रयोगों से यह प्रमाणित हो चुका है कि यज्ञ अनेक खतरनाक रोगों की अचूक दवा है इसलिये उन्होंने "यज्ञोपैथिक" नामक एक नयी उपचार विधि ही प्रचलित की[18] । आयुर्वेद के चरक, वृहन्निघण्टु रत्नाकर, योगरत्नाकार, गदनिग्रह आदि ग्रन्थों में ऐसे कई योग वर्जित हैं, जिनकी आहुति अग्नि में देने से वायुमण्डल शुद्ध होता है यथा श्वास द्वारा धूनि अन्दर लेने से

१८. विशेष जानकारी के लिए शान्तिकुञ्ज हरिद्वार से सम्पर्क किया जा सकता है ।

रोग दूर होते हैं। जहां होम किया जाता है उस स्थान के अन्दर वर्तमान अग्नि वायु तथा सूर्य किरणों की रोगदूर करने की शक्ति बढ़ जाती है। अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त ।। एवं काण्ड २०, सूक्त ९६ में अज्ञात तथा असाध्यसम दुसाध्य रोगों से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय होमचिकित्सा बताई गई है। यज्ञों में जिन द्रव्यों का प्रयोग होता है वे सभी वायु शोधक तथा रोग नाशक होते हैं। सबसे मुख्य द्रव्य घृत होता है। "प्लेग पर लिखते हुए डा० हैम्पकिन का कहना है कि घृत के परमाणु से जो वाष्प बनती है, वह रोग के कीटाणुओं को नष्ट कर देती है। मद्रास के "सैनटरी कमिश्नर" कर्नल किंग ने सन् १८९८ में विद्यार्थियों को सलाह दी थी कि उन्हें चावल में घृत और केशर मिलाकर हवन करना चाहिए, उसकी गैस से रोग के कीटाणु मर जाते हैं। उनका तो यहां तक कहना था कि अंग्रेजी शब्द "हाईजीन, सम्भवतः हवन शब्द से निकला होगा[19]। सन् १९१२ में 'इण्डियन रेव्यू" में हवन पर एक लाख निकला था जिसमें डा. ट्रिलिट का मत दिया हुआ था[20] कि चीड की लकडी के धुएं से ३२/प्रतिशत, शाहबलूत की लकड़ी से ३५/प्रतिशत, शुद्ध खाण्ड के जलने से ७०/प्रतिशत अंश "आल्डिहाइड" नामक गैस उत्पन्न होती है, यह गैस बहुत रोगनाशक होती है इससे रोगियों के कमरे शुद्ध किए जाते हैं।" इससे यह निःसन्देह पता चलता है कि यज्ञों की हवा रोगनाशक है।

होम की सहायता से होने वाली वर्षा का[21] जल भी शुद्ध होता है और उस शुद्ध

---

१९. श्री महावीर स्वरूप जी के 'सिद्धांत' में मुद्रित लेख।

२०. गुरुवेद ज्योतिः, गङ्गेश्वर इण्टर नेशनल वेद मिशन, बम्बई, वि. सं. २०४३ षष्ठ पटल वैदिक-प्रज्ञा, पृ० ८६

२१. अग्निहोत्र से होने वाली वृष्टि आधुनिक विज्ञान-सम्मत है, एतद्विषयक जानकारी के लिए गु. कां. वि. वि. के पूर्व प्रोफेसर श्रीयुत स्व. मीरालाल जी गोयल एम० एस० सी० का "अग्निहोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप" विषयक अनुसन्धानपूर्ण निबंध द्रष्टव्य है। और इसी विषय से सम्बन्धित पं० रघुनन्दन शर्मा द्वारा रचित "वैदिक सम्पत्ति" के उपसंहार में 'यज्ञ' शीर्षक अती अवधेय है। जिसमें उन्होंने यज्ञ से होने वाली वर्षा को अविनाश चन्द्रदास और मिस्टर हैरफील्ड के उदाहरण प्रदर्शित करते हुए विज्ञानसम्मत बताया है। तथा इसके साथ ही यज्ञ का अर्थ इच्छानुसार पानी बरसाना किया है।

जलवायु से उत्पन्न औषधि–वनस्पति भी शुद्ध अथवा निर्दोष होते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि को पावक, अमीवचातन, पावक शोचिष्, सपत्नदम्भन आदि विशेषणों से विभूषित करके उसकी शोधकता प्रदर्शित की गयी है[22]। अतः वायुमण्डल के प्रदूषण को रोकने में वेद प्रतिपादित यज्ञों की महिमा प्रमाणित है। भोपाल गैस त्रासदी में उन स्थानों पर कम विनाश हुआ जहां यज्ञ होते थे[23]।

अथर्ववेद के अनुसार अग्निहोत्र का समय सायं और प्रातः है। सायं किया हुआ अग्निहोत्र प्रातः काल तक वायुमंडल को प्रभावित करता रहता है और प्रातः किये गये अग्निहोत्र का प्रभाव सायं काल तक वायु मंडल पर पड़ता है[24]। डा० रामनाथ वेदालंकार के अनुसार अग्निहोत्र दो प्रकार का होता है। उन्हीं के शब्दों में एक अग्निहोत्र वह है जो धार्मिक विधि विधानों के साथ मन्त्रपाठ पूर्वक होता है, दूसरे उसे भी अग्निहोत्र कह सकते हैं जिसमें मन्त्र पाठ आदि न करके विशुद्ध वैज्ञानिक या चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टि से अग्नि में वायु शोधक या रोगकृमिनाशक पदार्थों का होम किया जाता है[25]।

आधुनिक युग में वेदों की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाले महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य[26] के आधार पर हम कह सकते हैं कि वायुशोधक वस्तुओं में यज्ञ मुख्यतम

---

२२. यथा, पावक ऋग्० १.१२.१८,१९, अमीवचातन अथर्व. १९/५८/२, पावक शोचिष् ऋ० ३/६/८, सपत्नदम्भन् यजु० ३/१८

२३. देखो, स्वामी विवेकानन्द सरस्वती द्वारा लिखित 'अग्निहोत्र यज्ञ विज्ञान की दृष्टि में'।

२४. सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता ॥
प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता ॥
(अथर्व. १९/५५/३–४)

२५. 'आर्षज्योति :' पृ० २९२

२६. द्रष्टव्य–यजु. १/२, १२–१६, १९–२३, २५, २७, २/१, ६–८, १६, २२, २५ तथा ३/१, ४ आदि का भाष्य और भावार्थ।

साधन है। उससे न केवल वायु का शोधन होता है अपितु अन्न, जल, औषधि एवं वनस्पतियों का भी शोधन होता है। आज यज्ञ को धर्म विशेष तक सीमित मान लिया गया है। राष्ट्र के कर्णधार यज्ञ का प्रचार करने से इस लिए भयभीत होते हैं कि कहीं उन्हें धर्म (सम्प्रदाय) विशेष से सम्बन्द्ध न मान लिया जाय। उनमें इतना आत्मबल नहीं है कि इस पर्यावरण शोधन क्रिया का खुल कर प्रचार कर सकें। वे बेचारे भी पश्चिम की ओर देखते हैं कि कोई वहां से इसका प्रचार करे जिससे वे उनका सहारा लेकर इस वैतरणी को पार कर सकें। जबकि विदेशी वैज्ञानिक भी जैसा कि मैने पूर्व उल्लेख किया है गोघृत के यज्ञ से वायु शोधन मानने लगे हैं। तथा विदेशों में भी यज्ञों का प्रचार फैल रहा है[27]।

यज्ञ अन्न, जल, वायु, औषधि सभी के शोधन का मुख्य एवं सर्वोत्तम उपाय है। जिन मनुष्यों ने वेदों के आधार पर यज्ञों को दैनिक कृत्य का एक अंग माना था, तथा वृक्ष लगाने को पुत्रोत्पादन जैसा पुण्य कर्म बताया था वे धन्यवाद के पात्र हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य, ऋ॰भा॰भू॰, सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि और पञ्च-महायज्ञ विधि में दैनिक यज्ञ का विधान करके एक शती से भी पूर्व इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया था। आज भी जब घर-घर में यज्ञों का प्रचार होगा तभी समस्या को सुलझाया जा सकेगा।

अन्त में लेख को समाप्त करने से पूर्व प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र के शब्दों में यह संकेत कर देना अभीष्ट होगा कि यज्ञ वनों में वृक्षों की बहुतायत में सम्पन्न होने वाले[28]) से वनस्पति कर्बन को तत्काल लेते हैं[29] और प्राणवायु को प्रदान करते हैं। तथा यज्ञ के पदार्थ मुनक्का, शक्कर, गिलोय, गुग्गल आदि से विभिन्न

---

२७. द्र.—स्वा. विवेकानन्द, अग्निहोत्र यज्ञ विज्ञान की दृष्टि में।

२८. वृक्ष 'ओषधतः' के अन्तर्गत आते हैं। नि० ६/२७ और शतपथ० २/२/४/१ के अनुसार ये ऊर्जा के स्रोत तथा प्रदूषण को दूर करने वाले हैं।

२९. ऋ. ६/४८/१७—मा काकम्बीरमुद्वृहो वनस्पति-वृक्ष प्रदूषण को अवशोषित करते हैं।

रोगों (कैंसर, टायफाइड, दमा खांसी आदि) की निवृत्ति के साथ औषजन (प्राणवायु) अधिक उत्पन्न होती है। पराबैंगनी किरणों की प्रकृति है कि वह औषजन से मिलकर ओजोन तैयार कर देती है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि ओजोन लेयर (जिसकी चर्चा हमने ऊपर की थी) (की रिपेयर) (उसे नष्ट होने से बचाने), वृष्टि करने तथा प्रदूषण नष्ट करने का यज्ञ से उत्तम अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसा कि ऋषि कह रहे हैं—

"न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहं इर्मैवते न्यविशन्त केपयः।"

अर्थात् यदि इस दूषित और असन्तुलन पर्यावरण से बचाना है तो यज्ञ रूपी नौका पर चढ़ो=अन्यथा यह विश्व सबका सब दुःख रूपी नरक में डूब जायेगा।

महर्षि दयानन्द की शिक्षा पद्धति में वातावरण तथा मूल्यों का महत्व

डा० रघुवीर वेदालंकार
रीडर रामजस कालेज, दिल्ली

शिक्षा के सन्दर्भ में की जाने वाली इस राष्ट्रीय गोष्ठी में मेरा निवेदन विषय महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वे मूल्य हैं जिनको कि महर्षि दयानन्द शिक्षा के क्षेत्र में अपरिहार्य मानते हैं। महर्षि ने इस सन्दर्भ में पर्यावरण पद का प्रयोग नहीं किया है। यद्यपि पर्यावरण का अर्थ है –परितः आवृणोतीति। अर्थात् जो भी तत्त्व हमें चारों ओर से आच्छादित करते हैं, जिसका हमारे तन–मन–जीवन पर प्रभाव पड़े वह पर्यावरण कहलायेगा। इस प्रकार प्रकाश, आकाश, वायु, पृथिवी, जल, ध्वनि तथा विचार यह सब कुछ पर्यावरण के अन्तर्गत आ जायेगा। आजकल पर्यावरण अपने इस अर्थ को छोड़कर मुख्यतः वायु तथा जल तक सीमित हो गया। पर्यावरण प्रदूषण का अर्थ भी मोटे–रूप में यही समझा जाता है। यद्यपि ये तत्त्व भी शिक्षा में अपना महत्त्व रखते है पुनरपि शिक्षा समग्र रूप में इन तत्त्वों पर निर्भर नहीं है। शुद्ध पर्यावरण में भी अच्छी शिक्षा एवं उसके अपेक्षित लाभ प्राप्त न हो, ऐसा सम्भव है। शिक्षा के क्षेत्र में पर्यावरण की अपेक्षा वातावरण या परिवेष का महत्त्व अधिक है। महर्षि दयानन्द ने इसी पर बल दिया है। उन्होंने कहीं भी ऐसा नहीं कहा कि उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् के अनुसार गुरुकुल सर्वत्र पर्वत की तहलटियों में तथा नदियों के सङ्गम पर ही होने चाहिए। ऐसा सम्भव भी नहीं है। महर्षि ने तो केवल इतना ही लिखा है कि विद्यालय नगर या ग्राम से चार कोष दूर होने चाहिए। ऐसा उन्होंने केवल वातावरण की पवित्रता की दृष्टि से ही कहा होगा जिससे कि नगरों या ग्रामों का रूप अशुद्ध एवं अश्लील वातावरण शिक्षार्थियों को प्रभावित न कर सकें। महर्षि की यही दृष्टि तब भी रही है जबकि वे बालिकाओं तथा बालकों के विद्यालय में भी कम से कम दो कोष का अन्तर कहते हैं। तथा पांच वर्ष के बालक बालिका को भी एक दूसरे के विद्यालय में जाने का निषेध करते हैं। यह सब इसीलिए है कि अध्ययन काल में ब्रह्मचर्य एवं तपस्या युग्म शान्त वातावरण बना रहे।

यहां पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि महर्षि दयानन्द केवल विद्याध्ययन काल में ही अच्छे वातावरण पर जोर नहीं देते, अपितु वे तो जन्म से पूर्ववर्त्ती वातावरण के प्रति भी पूर्ण सजग हैं। इसीलिए महर्षि कहते हैं कि गर्भाधान से पूर्व–मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धि नाशक पदार्थों को छोड़कर जो शक्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें। कितनी दूर दृष्टि है महर्षि की इस प्रकार करने से ही शुभ संस्कारी बुद्धिमान्, पराक्रमवान् बालक उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं। कुसंस्कार युक्त, निर्बुद्धि बालकों को तो अच्छे पर्यावरण में रखकर भी अच्छी शिक्षा नहीं दिलायी जा सकती। अतः शिक्षा के क्षेत्र में पर्यावरण की अपेक्षा पवित्र वातावरण अधिक अनिवार्य है तथा इस के लिए माता-पिता को भी अत्यन्त सुशील तथा नियन्त्रित होना चाहिए ऐसा महर्षि मानते है। किसी भी शिक्षा शास्त्री ने इस ओर विचार नहीं किया है। या इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि जन्म से पूर्ववर्त्ती वतावरण की ओर शिक्षार्थियों की दृष्टि नहीं गयी है जो कि अति आवश्यक है।

इसके साथ ही महर्षि बालक के विद्यालय में जाने से पूर्ववत्ती वातावरण को भी अति महत्त्वपूर्ण मानते हैं। क्योंकि बच्चे के वास्तविक निर्माण का यही समय है। इस समय के संस्कारों के आधार पर ही बच्चे का भविष्य तथा भविष्य में प्रापणीय शिक्षा निर्भर करती है। महर्षि का मन्तव्य है कि बच्चे में सुसंस्कार डालने के लिए उसके माता पिता को भी धार्मिक तथा सुसंस्कृत होना ही चाहिए इसीलिए इस सन्दर्भ में महर्षि मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद को उद्धृत करके मातृमान् का अर्थ करते है कि 'प्रशन्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्' यहां पर महर्षि ने धार्मिकी तथा विदुषी में दो पद प्रयुक्त किये हैं। इसका अर्थ है कि इन दोनों गुणों से मुख्य माता ही सुसंस्कृत बच्चे का निर्माण कर सकती है। माता–पिता को बच्चे की न केवल शिक्षा का ही ध्यान रखना चाहिए अपितु उनमें अन्य मानवीय गुणों का आधान भी करना चाहिए। महर्षि कहते हैं —'बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हों। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय. विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि हो, वैसा प्रयत्न करते रहें। सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवादन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो -करावें। यहीं

पर महर्षि ने यह भी निर्दिष्ट कर दिया कि बालकों को अच्छे व्यवहार की शिक्षा भी माता–पिता को दे देनी चाहिए। महर्षि की दृष्टि में यह सभी कुछ शिक्षा पद से अभिधेय है जो कि माता–पिता को बच्चे के विद्यालय में भेजने से पूर्व अवश्य दे देनी चाहिए।

विद्यालय में जाकर जो पुस्तकीय ज्ञान बच्चे प्राप्त करते हैं, उसके लिए महर्षि ने विद्या पद का प्रयोग किया है। उसी को प्राप्त करने वाला विद्या+अर्थी तथा इसे प्राप्त कराने का साधन विद्या+आलय कहलाता है। महर्षि ने विद्यालयीय शिक्षा के भी कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांत स्थिर किये हैं, उनको ही मूल्य भी कह सकते हैं। मूले भवं मूल्यम्। मूल में होने वाले अर्थात् आधार भूत सिद्धांत ही मूल्य कहलाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि द्वारा प्रतिपादित ऐसे सिद्धांत निम्न है—

१. शिक्षा अनिवार्य हो –महर्षि दयानन्द मानते है कि राष्ट्र के प्रत्येक बालक या बालिका के लिए शिक्षा अनिवार्य घोषित होनी चाहिए। यदि कोई पांच या आठ वर्ष के पश्चात् अपने बच्चों को विद्यालय में न भेजे तो उसको दण्ड दिया जाना चाहिए। इसके लिए कोई राजनियम या जाति नियम होना चाहिए। सम्भवत: शिक्षा के क्षेत्र में सर्वप्रथम महर्षि ने ऐसी घोषणा की है। उनके पूर्व पहले तथा पश्चात् आज तक किसी भी शिक्षा शास्त्री या सरकार ने ऐसी घोषणा नहीं की। प्राचीन शास्त्रों में भी सम्भवत: शिक्षा न दिलाने वाले माता–पिता को दन्ड देने की बात नहीं कही गयी है। ऐसा कहकर महर्षि ने अत्यन्त ही क्रान्तिकारी घोषणा की है, यदि इसे अपना लिया जाय सम्पूर्ण राष्ट्र ही शिक्षित हो जायेगा–कोई भी बच्चा देश में अशिक्षित नहीं रह सकेगा। अशिक्षा ही मानव–समाज तथा राष्ट्र का प्रबलतम शत्रु है। समाज में प्राप्त नाना कुरीतियां निर्धनता आदि दुर्गुण भी अशिक्षा की देन है। इसीलिए शायद विद्या विहीन: पशु:' कहा गया है। सभी का शिक्षित होना तभी सम्भव है जबकि शिक्षा को अनिवार्य घोषित कर दिया जाए। सरकार को प्रौढ़शिक्षा आदि के नाम पर जो अनेक कार्यक्रम चलाने पड़ रहे हैं, ऐसा करने पर उनकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

भारत निर्धन देश है तथा यहां की जनसंख्या का बहुत बड़ा प्रतिशत ग्रामों में निवास करता है जहां कि खाने–पीने–रहने तथा वस्त्रों की समस्या भी पूर्ण नहीं हो

पाती है इसके अतिरिक्त देश का बहुत बड़ा भाग मजदूर तथा भिखारियों का है जो ५-६ वर्ष का होते ही बच्चे को अपने साथ कमाई के कार्य में लगा देते हैं, ऐसी अवस्था में माता-पिता अपनी प्रत्येक सन्तान को शिक्षा कैसे दिला सकते हैं, यह गम्भीर प्रश्न है। महर्षि के समय में भी ऐसी स्थिति थी तथा वे दरिद्रता की उस स्थिति से परिचित थे फिर भी उन्होंने अनिवार्य शिक्षा की बात कैसे कह दी। इसका समाधान यही है कि शिक्षा का प्रबन्ध राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र की ओर से निःशुल्क होना चाहिए सुरक्षा तो सभी की है। राजकीय विद्यालयों में फीस नाम मात्र की होती है तथा कोई भी अपने बच्चे को वहां प्रवेश दिला सकता हैं। यद्यपि ऐसा है, किन्तु इसके साथ ही आज शिक्षा पर व्यक्तिगत तथा सामाजिक नियन्त्रण भी हैं यही कारण है कि ऐसी संस्थाओं के सामने राजकीय विद्यालयों में बच्चों को भेजना ठीक नहीं समझा जाता क्योंकि उनमें पढ़ाई का स्तर लगभग शून्य पर जा पहुचा है। इसके विपरीत व्यक्तिगत या सामाजिक संस्थाओं में ऊंची से ऊंची फीस देकर भी बच्चों को भेजा जाता है। शिक्षा को अनिवार्य घोषित करते ही इस प्रकार की संस्थाओं पर भी प्रतिबंध लगाना होगा किन्तु इसके साथ ही राजकीय विद्यालयों-महाविद्यालयों का स्तर भी ऊंचा उठाना होगा। अमेरिका में जिस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र के निवासी को उसी क्षेत्र में स्थित विद्यालय में प्रवेश मिलता है, उसके अतिरिक्त नहीं चाहे वह राष्ट्रपति की सन्तान हो या दरिद्र की। अनेक अर्थों में यह प्रणाली ही महर्षि द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली के अनुरूप है जिसका भारत में सर्वथा अभाव है इस शिक्षा व्यवस्था में महर्षि इतना और करते है कि विद्यालयों में धन के आधार पर बच्चों की वेश भूषा, खान-पान, आसन आदि में भेद भाव न किया जाय। दरिद्र तथा राष्ट्रपति के बच्चे को समान रूप में सुविधाएं उपलब्ध हो ऐसा महर्षि कहते हैं। महर्षि के इस सिद्धान्त में महान् समाजवाद निहित है। काशी ? सम्पूर्ण राष्ट्र के सभी बच्चे समान रुप में इस प्रकार की शिक्षा को प्राप्त कर सकें। ऐसा होने से शिक्षा के क्षेत्र में यह दुरावस्था नहीं होगी जो कि आज वर्तमान में। जहां एक ओर एक माता-पिता लाखों रुपया अपने बच्चे के प्रवेश मात्र पर खर्च करते हैं तो दूसरी ओर एक निर्धन छात्र को फीस के अभाव में विद्यालय के दर्शन ही नहीं होते। इसी अव्यवस्था के परिणाम स्वरुप आरक्षण आदि की व्यवस्था करनी पड़ी किन्तु यह समस्या का वास्तविक समाधन नहीं हैं। इससे तो आक्रोश बढ़ा ही है, कम नहीं हो पाया।

प्राचीन काल में विद्या के साथ-२ तपस्या, जीवन शुचिता आदि गुण भी अत्यन्त आवश्यक थे। महर्षि दयानन्द भी विद्यार्थी में इन गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं। वे लिखते हैं 'सबको तपस्वी होना चाहिए। न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करें। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करें। मन में ओम् का जप करता जाय। इस प्रकार करने से मन की पवित्रता और स्थिरता होती है, इसका अभिप्राय है कि महर्षि शिक्षा के लिए मन की पवित्रता तथा स्थिरता को अनिवार्य मानते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इन गुणों की ओर ध्यान नहीं है तभी तो आज का साक्षर कर्त्तव्य भी भयकर सिद्ध हो रहा है। विद्या ने तो स्वयं कहा है– यमेव विद्या शुचिमप्रमत्त मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। अर्थात् पवित्रता–अप्रमाद–मेधा तथा ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त छात्र को ही विद्या प्रदान करनी चाहिए। महर्षि का भी यही मन्तव्य है।

अध्यापक भी धार्मिक–सदाचारी हों—बच्चे तथा उनके माता–पिता के अतिरिक्त अध्यापक भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि वे धूर्त–कामचोर-प्रमादी आचरण भ्रष्ट होगे तो उनके शिष्य भी वैसे ही बनेंगे। दो भाग्य से शिक्षा के क्षेत्र में यह दोष अभी भी वर्तमान हैं। आज शिक्षक बनने के लिए केवल अच्छे नम्बर, डिग्रियां तथा अध्यापन अनुभव आदि पूछे जाते है। अभ्यार्थी की नैतिक योग्यता पर कोई ध्यान नही दिया जाता है। इसी का परिणाम है कि शिक्षक बनने के पश्चात् अनेक अध्यापक अपने उस कर्त्तव्य कि या नैति दायित्व का पालन नहीं करते जिसकी की उनसे अपेक्षा की जाती है। महर्षि इस विषय में पूर्णतः सतर्क है। इसी लिए उन्होंने लिखा है 'जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।

इस प्रकार हम कहते है कि महर्षि दयानन्द के शिक्षा के चार पाठकों की ओर संकेत किया। है। ये चारों ही अच्छी शिक्षा के लिए अनिवार्य हैं—

१. स्वयं विद्यार्थी ब्रह्मचर्य-तपस्या आदि से युक्त हो।
२. उसके माता-पिता भी धार्मिक तथा विद्वान हो तथा बच्चे के जन्म से पहले ही वे इस ओर ध्यान देना प्रारंभ कर दें।
३. विद्यालय ग्राम या नगर से दूर अच्छे वातावरण में स्थित हों।
४. अध्यापक भी धार्मिक-सदाचारी तथा विद्वान् हो। इसके अतिरिक्त शिक्षा सबके लिए अनिवार्य घोषित हो।

ब्राह्मण ग्रन्थों में शिक्षा और पर्यावरण

लेखक—डा० मनुदेव बन्धु
रीडर, वेद विभाग/ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में ब्राह्मणग्रन्थों का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण ग्रन्थ ज्ञानागार के रूप में ख्याति प्राप्त है। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के दुरुहविषयों की व्याख्या में अपना समय व्यतीत करते हैं। उनमें जहां कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या है, वहीं पर शिक्षा और पर्यावरण के विविध मानदण्डों को भी समझाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शिक्षा तथा तत्कालीन समाज के शैक्षणिक जीवन पर विस्तार से विचार किया गया। है सूक्ष्मेक्षिका से अध्ययन करने पर पर्यावरण पर विस्तृत वक्तव्य पढ़ने को मिलता है।

मानव का जन्म— वैदिक परम्परा के अनुसार मानव के तीन जन्म होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में तीन जन्मों का वर्णन निम्न रूपेण मिलता है—

"त्रिर्ह वै पुरुषो जायते। एतन्नु एव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायते, अथ यं यज्ञ उपनयति स यद्यजते तद् द्वितीयं जायते, अथ यत्र म्रियते यत्रैनमग्नावभ्यादधाति स यत् ततः सम्भवति तत् तृतीयं जन्म जायते ॥"

शतपथ ब्राह्मण ११/२/१/१

अर्थात् प्रथम जन्म माता–पिता के प्रति माता–पिता के गर्भ से होता है। यह जन्म अतिसाधारण है, सभी मनुष्यों का होता है। द्वितीय जन्म यज्ञ द्वारा होता है और तृतीय जन्म पुनर्जन्म है, जो मरने और अग्नि को समर्पित होने के बाद मनुष्य को प्राप्त होता है।

द्वितीय जन्म की तुलना में प्रथम जन्म का कितना महत्त्व है, यह शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से सुस्पष्ट हो जाता है—

'मनुष्यो ह वा अस्मात: पुरा जन्म भवति। इदं स्याहुः रक्षांसि योषित मनुसचन्ते, तदुत रक्षांस्येव रेत आदधतीति। अथात्राद्धा जायते यो ब्राह्मणो यो यज्ञाद् जायते। तस्मादपि राजन्यों वा वैश्यो वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणों हि जायते यो यज्ञाज्जायते ॥

(शतपथ ब्राह्मण ३/२/१/४०)

अर्थात् उपनयन अथवा दीक्षा के पूर्व जो जन्म होता है वह निश्चित रूपे निकृष्ट

जन्म होता है। पूर्वजों का कथन है कि उस जन्म में राक्षसों के वीर्य का भी सम्मिश्रण रहता है। अतः वास्तविक जन्म वह है जो ब्रह्म (वेद) और यज्ञ द्वारा सम्पन्न होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यज्ञ से ही उत्पन्न होते हैं। अतः क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण कह सकते हैं।

प्रथम जन्म प्रकृति में होता है और द्वितीय जन्म संस्कृति में। भाव यह है कि प्रथम प्राकृतिक होता है और द्वितीय जन्म सांस्कृतिक या शैक्षिक। संस्कृति ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न करती है। वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का शिक्षा में जन्म उपनयन—संस्कार तथा वेदारम्भ संस्कार से होता है। ये संस्कार शिक्षा, संस्कृति और आचार्यकुल या विद्यालय के लिए प्रवेश पत्र हैं। यह प्रवेशपत्र व्रत हीनों के लिए नहीं है। यह उनके लिए है जो शिक्षा प्राप्ति के लिए व्रत लेने को तैयार हों। शिक्षा के प्रति प्रतिभूति और प्रतिबद्ध हों। अनृत से सत्य की ओर संक्रमण की निष्ठा रखते हों। जिसका सर्वप्रथम संकेत हमें यजुर्वेद में मिलता है—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि च तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥"

यजुर्वेद २/१८

व्रताचरण से लाभ— व्रत कर्म करने को कहते है[1]। श्रेष्ठतम कर्मों को व्रत कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में श्रेष्ठतम कर्मों को यज्ञ कहा गया है[2] यज्ञरूपी व्रत से दीक्षा प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा मिलती है। दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है और सर्वान्ते श्रद्धा से सत्य (अमृत) की प्राप्ति होती है। इस व्रताचरण से लाभ के सम्बन्ध में यजुर्वेद उद्घोषणा करता है—

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धयासत्यमाप्यते ॥"

(यजुर्वेद १९/३०)

१- व्रतमिति कर्म नाम। निरुक्त

२- यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथब्राह्मण

शिक्षा का स्वरूप– ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में शिक्षा का चरम उद्देश्य विमुक्ति है। इस कारण इसके दो पक्ष हैं– परा और अपरा। ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का सम्बन्ध अपराविद्या से है। परा विद्या अक्षर परमेश्वर से सम्बन्धित है [1] दोनों मे कोई पारस्परिक वैमनस्य भी नहीं है। ऐहिक जीवन में वेद तथा वेदाङ्गों की महनीयता परमावश्यक है। तत्कालीन समाज में शिक्षा के द्वारा ब्रह्मज्ञान कराया जाता था। विद्या और अविद्या (ज्ञान और कर्म) की महिमा का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं वे अन्धकार मय लोक में जाते हैं। जो केवल विद्या में रत रहते हैं वे उससे भी अधिक गाढ़ अन्धकारमय लोक में जाते हैं [2]। शिक्षा के माध्यम से अमृत की प्राप्ति होती थी छात्र अपने आचार्य से प्रार्थना करता है– हे आचार्य वर्य ! मुझे असत्य से हटाकर सत्य की ओर ले चलें, आप मुझे अन्धकार से हटाकर प्रकाश की ओर ले चलें, आप मुझे मृत्यु से हटाकर अमृत (मोक्ष) की ओर ले चलें। मुझ पर आपकी अतिकृपा होगी [3]।

शिक्षा शब्द का प्रयोग– शिक्षा शब्द का प्रयोग हमें वेदों के बाद सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है [4]। इसका अर्थ सीखना है। शिक्षा में दम, दान तथा दया का निवास अनिवार्य रूप से होना चाहिए। शिक्षा शब्द शिक्ष् धातु से बनता है। शिक्षा का प्रयोग विद्याग्रहण के लिए हुआ [5]। शिक्षा शब्द संकुचित तथा विस्तृत उभयविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शंकर के मतानुसार जिसके द्वारा वर्णादि का उच्चारण सीखा जाय, वह शिक्षा है। अथवा जिससे वर्णादि सीखे जायें, वह शिक्षा है [6]। इस विवेचन के

१- अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते/मुण्डकोपनिषद् १/१/५

२- अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। शतपथ १४/७/४/१०

३- ओ३म् असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।। शतपथ ब्राह्मण १४/१/३/२८

४- शिक्षेद् दमं दानं दयामिति। शतपथ १४/५/२/३
शीक्षां व्याख्यास्यामः। तैतिरीयोपनिषद् /१/२/३

५- शिक्ष विद्योपादाने। धातुपाठ, भ्वादिगण

६- तैत्तिरीयोपनिषद् १/२/१ शांकर भाष्य

मूल में सीमित दृष्टि का निर्वाह हुआ है। स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद न करने का विधान व्यक्ति को उच्छृङ्खल नहीं होने देता था। इस अर्थ में तत्कालीन शिक्षा ऐसी प्रक्रिया थी जो जीवन-पर्यन्त चलती रहती थी। इसकी पूर्णता तब होती थी जब व्यक्ति साक्षात्कार कर लेता था।

धार्मिक विकास— आचार्य कुलों में यज्ञादि निरन्तर होते थे। अत: शिष्यों को याज्ञिक परम्परा से अवगत कराया जाता था। देव कार्य और पितृकार्य से[1] प्रमाद न करने का उपदेश भी इस बात का द्योतक है कि जीवन में जिन देवतत्वों से प्रकाश तथा ज्ञान प्राप्त होता है, उनको विस्तृत न किये जायें। बड़े-बड़े यज्ञों के समारोह में आचार्य शिष्यों को भी ले जाया करते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे इन कार्यों में सहयोग भी प्रदान करते थे। याज्ञवल्क्य अपने शिष्यों को जनक के यहां आयोजित यज्ञावसर पर साथ ले गये थे।[2]। धार्मिक दृष्टि से समुन्नत करने हेतु शिष्यों को धर्माचरण का उपदेश दिया जाता था। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वे धर्म से प्रमाद न करें[3]।

साहित्य— तत्कालीन समाज में साहित्य मौखिक ही था। वाक् तत्व की महिमा ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार से वर्णित है। वाक् से बढ़कर विज्ञान को महत्ता प्रदान की गई है। विभिन्न अवसरों पर स्तोत्रों का पाठ होता था[4]। तत्कालीन समाज में ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान इत्यादि का उच्चकोटि के साहित्यो में महत्वपूर्ण स्थान था। इसके साथ यह भी मान्यता थी कि ये सभी साहित्य प्रभु की देन हैं[5]।

पाठ्यक्रम— उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत समानता है। क्योंकि उपनिषद ब्राह्मणग्रन्थों के गर्भ से उद्भूत हैं। पाठ्य विषयों की बहुलता इस बात को सिद्ध करती है कि आत्मा के विवेचन के साथ ही साथ अन्य विषयों का भी चिन्तन होता था। इन विषयों के ज्ञाता भी सम्भवत: मन्त्रवित् कहलाते थे। पाठ्य विषयों में वेद—

१- देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/२

२- याज्ञवल्क्य: स्वयमेव ब्रह्मचारिण-मुवाचैता: सौम्योदज सामन्वा इति
शतपथ ब्राह्मण १४/३/१/२

३- धर्मं चर धर्मान्नप्रमदितव्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/२

४- शतपथ ब्राह्मण १४/१/३/२८

५- शतपथ ब्राह्मण १४/२/४/१०

चतुष्टय, इतिहास, पुराण, व्याकरण, अंक गणित, मौसम विज्ञान, जादु-विद्या, वाद-विवाद, देवविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, नृत्यसंगीत-वाद्यविद्या, यज्ञशास्त्रादि विद्याए अनिवार्य रूप से रखी गयी थी[1]। ब्रह्मविषयक वाद विवाद ब्रह्मोद्य कहलाते थे[2]। अतः उसमे दक्षता प्राप्त कराने के लिए तर्कशास्त्र का अध्ययन अपेक्षित था। शंकराचार्य वाकोवाक्य का अर्थ तर्कशास्त्र मे लेते हैं[3]। मद्रदेश का काप्य पतञ्जल के यहाँ यज्ञ शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होता था। आरूणि उद्दालक ने वहाँ जाकर इसका अध्ययन किया था[4]।

शिक्षण पद्धति- तत्कालीन समाज मे शिक्षा देने की अनेक पद्धतियां थी। जिसमें कण्ठस्थ करने की पद्धति, प्रवचन, व्याख्यान, प्रश्नानुप्रश्नतथा प्रयोगात्मक पद्धतियां थीं। याज्ञवल्क्य का कथन था कि मैं व्याख्यान करुंगा[5]। तुम मेरे व्याख्यान वाक्यों का चिन्तन करना[6]। व्याख्यानों को रोचक बनाने के लिए दृष्टान्तों का आश्रय लिया था जाता। दैनन्दिन जीवन के प्रसङ्गों में पाये जाने वाले तत्वों को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता था।। उदाहरणार्थ-आत्मा से जगत्-सृष्टि बताते हुए कहा है कि जैसे मकड़ी से तन्तु निकलते हैं तथा जैसे अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा से समस्त प्राण, लोक, देवगण तथा भूतादि विविध रूप से उत्पन्न होते है[7]। गार्गी से याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मलोक के विषय में अतिप्रश्न न करने के लिए कहा। अतिप्रश्न करने से मस्तक कट जाने की बात कही गई है[8]। अजातशत्रु गार्ग्य को हाथ पकड़कर सोते हुए पुरुष के पास ले जाता है। उसके नाम पुकारने पर वह नहीं

१- छान्दोग्य ब्राह्मण ७/१/२

२- शतपथ ब्राह्मण १४/३/१/१

३- वाको वाक्यम् तर्कशास्त्रम्। छां. उप. ७/१/२ शांकर भाष्य।

४- मद्रेष्वसामपतञ्जलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः। शतपथ ब्राह्मण १४/३/७/१

५- व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मेनिदिध्यासस्व। शतपथ १४/४/२/२

६- बृहदारण्यकोपनिषद् ४/२/२

७- शतपथ ब्राह्मण १४/२/१/२०

८- शतपथ ब्राह्मण १४/३/६/१

उठ पाया। किन्तु सुषुप्त पुरुष के हाथ को दबाकर जगाने से उठ खड़ा होता है। इस प्रकार अजातशत्रु के द्वारा पुरुष के अब्रह्मत्व की सिद्धि के लिए इसीविधि का आश्रय लिया गया है। प्रयोगात्मक पद्धति का बहुत प्रयोग उस युग के शिक्षण में होता था[१]।

आचार्य के रूप में पिता— पिता को आचार्य के रूप में भी ब्राह्मणों में निर्दिष्ट किया गया गया है। श्वेतकेतु ने पिता से शिक्षा ली थी किन्तु क्षत्रिय बन्धु प्रवाहरण के पास जाकर भी उसने आध्यात्म-लाभ प्राप्त किया था[2]। पिता के आचार्यत्व में ही देवों, असुरों और मानवों की शिक्षा सम्पन्न हुई थी[3]। पिता स्वयं गायत्री उपदेश द्वारा ज्ञानारम्भ करता था। यह संस्कार पहले मौखिक स्वीकृतमात्र था[4]।

चरक— शतपथ ब्राह्मण में चरकों का उल्लेख हुआ है[5]। चरक विचरणशील विद्यार्थी थे जो ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते थे। शंकराचार्य[6] ने चरक ने दो अर्थ किए हैं (१) अध्ययनार्थ विचरण करने वाले तथा (२) यज्ञ सम्पादनार्थ अध्वर्यु। प्रस्तुत प्रसङ्ग में चरक का अर्थ विद्यार्थी ही समचीन प्रतीत होता है कि साधारण शिष्य चरक कोटि में नहीं आते थे। विद्वान् तथा सुशिक्षित जनों का अटनशील वर्ग ही चरक था[7]।

विनय— विनय का साम्राज्य जैसा ब्राह्मणों और उपनिषदों में परिलक्षित होता है, वैसा शिक्षा के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। उसका कारण यह है कि इस युग में यदि किसी वस्तु की प्रतिष्ठ हुई है तो विद्या की ही है। विद्या से विनय की प्राप्ति

१- शतपथ ब्राह्मण १४/२/१/१५-१६
२- शतपथ ब्राह्मण १४/६/२/१
३- शतपथ ब्राह्मण १४/५/२/१
४- शतपथ ब्राह्मण १४/६/२/६
५- मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम। बृहदारण्यकोपनिषद् ३/३/१
६- चरका अध्ययनार्थं व्रतचरणाच्चरका अध्वर्यवो वा शांकर भाष्य बृह० उप० ३/१/१
७- वैदिक इण्डेक्स, प्रथम खण्ड पृष्ठ २५८, हिन्दु सभ्यता पृ० १०६

होती है[1] मानव मूल्यों में विनय का स्थान सर्वप्रथम है। देव, मनुष्य और असुर विभिन्न स्वभाव के होते हुए भी विद्याप्राप्ति हेतु आचार्य के निकट विनम्रभाव से समुपस्थित हुए थे[2]। उनको पूर्ण रूप से परिज्ञान था कि पिता—प्रजापति बिना विनयशीलता के समुचित ज्ञान का वितरण नहीं करेंगे। जनक सदृश राजन्य महर्षि याज्ञवल्क्य के ज्ञान से प्रभावित होकर विदेहों के सहित समर्पित होने में कोई संकोच नहीं करते[3]। शिष्यों की उच्छृंखल मनोवृत्ति कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती। ज्ञानोपलब्धि हेतु ब्राह्मणों ने अपने स्वत्व की अवहेलना करते हुए क्षत्रियों के आगे अपने को समर्पित करने में कोई संकोचानुभूति नहीं की थी[4]।

शुल्क— आचार्यकुलों में शिष्यों से अध्यापन के निमित कोई शुल्क नहीं लिया जाता था[5]। समित्पाणि होकर जिज्ञासु आश्रमों में आया करते थे[6]। आचार्यों को बड़ी—बड़ी दक्षिणाएं दी जाती थी। इन दक्षिणाओं से यह अर्थ असंगत होगा कि शिक्षा के निमित्त इनकी अपरिहार्यता थी। विद्योपार्जन के अनन्तर शिष्य उन्हें उपहार अवश्य देते थे। ऐसी मान्यता थी कि आचार्य शिष्यों को बिना उपदिष्ट किये उससे धन नहीं ले सकते थे[7]। राजा जनक[8] और जानश्रुति[9] द्वारा प्रदान किये जाने वाले उपहारों से निःसन्देह यह प्रतित होता है कि आचार्य कुलों को सम्पन्न बना देने का प्रयास राजन्यों द्वारा किया जाता था। इन उपहारों का शुल्क से समीकृत करना असंगत होगा[10]।

१- विद्या ददति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्। हितोपदेश—६

२- शतपथ ब्राह्मण १४/५/२/१

३- शतपथ ब्राह्मण १४/४/१/६

४- शतपथ ब्राह्मण १४/२/१/१५

५- बृहदारण्यकोपनिषद्: एक अध्ययन—डॉ० मनुदेव बन्धु, समाज दर्शन

६- प्रश्नोपनिषद १/१

७- याज्ञवल्क्य: पिता मेंऽमन्यत नानुशिष्य हरेतोति। शतपथ १४/४/१/६

८- शतपथ ब्राह्मण १४/४/१/६

९- मन्त्र ब्राह्मण ४/२/१

१०- बृहदारण्यकोपनिषद्: एक अध्ययन-डॉ० मनुदेव बन्धु, समाज दर्शन

शिक्षा और समाज– ब्राह्मण ने और उपनिषदों में शिक्षा के प्रति समाज बड़ा जागृत दिखाई देता है। स्वाध्याय और प्रवचन समाज के प्रत्येक घटक के लिए अनुष्ठेय था[1]। इस तरह शिक्षा को जीवन का अविभाज्य अंग बनाकर समाज को बौद्धिक दृष्टि से ऋषियों ने बडा ही सम्पुष्ट किया था। कोरी आस्था और विश्वास से जी पाना उस युग में सम्भव न था। वस्तुत: यह युग आलोचना प्रधान था। सर्वत्र कर्मकाण्ड व्याप्त था। फिर भी प्रत्येक वस्तु की अध्यात्मिक व्याख्या भी होती थी। अत: शिक्षा की अनिवार्यता होने के कारण पिता पण्डित–पुत्र और पण्डिता-पुत्री की आकांक्षा करते थे[2]। तत्कालीन समाज में शिक्षा प्राप्ति के लिए व्यग्रता आबालवृद्धवनिता में दिखाई देती है। स्त्रियों का भी शिक्षा से घनिष्ट सम्बन्ध था। गार्गी याज्ञवल्क्य को विवाद हेतु खुला आमन्त्रण देती है[3]। मैत्रेयी आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु अपने पति याज्ञ–वल्क्य को प्रोत्साहित करती है[4]। इस प्रसङ्ग में नारी शिक्षा की पराकाष्ठा का द्योतन होता है।

शिक्षा और राज्य– शिक्षा के विकास में राज्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा यज्ञ के अवसर पर सम्मेलन आयोजित करते थे। जिनमे अनेक विद्वान् सुदूर प्रान्त से आकर भाग लेते थे[5]। इन सम्मेलनों में शास्त्रार्थ होता था। यह शास्त्रार्थ ब्रह्मविषयक होता था। इसे ही ब्रह्मोद्य[6] के रूप में वर्णित किया गया है। राजाओं की परिषद् या समितियां[7] स्वयं को ज्ञान चर्चा में लगाती थीं। इन राज संस्थाओं में कहीं भी ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य विषय विचारार्थ प्रस्तुत नहीं हुआ है। जनक के यहां अधिकांश

१- तैत्तिरीयोपनिषद् १/९/१

२- शतपथ ब्राह्मण १४/६/४/१७–१८

३- शतपथ ब्राह्मण १४/३/८/२

४- येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवन् वेद तदेव मे ब्रूहि इति। शतपथ ब्राह्मण १४/२/४/३

५- शतपथ ब्राह्मण १४/३/1/१

६- शतपथ ब्राह्मण १४/३/८/११

७- शतपथ ब्राह्मण १४/६/१/

आचार्य उपस्थित होते थे। इसका कारण यही था कि वे प्रभूत मात्रा में उन्हें उपहार समर्पित करते थे। काशीराज अजातशत्रु को इसी बात के ऊपर ईर्ष्या होती थी[1] वह भी चाहता था कि मेरे यहां भी बहुत से ब्राह्मण या आचार्य आवें। इस प्रकार राजाओं के द्वारा विद्वानों का बड़ा सम्मान होता था।

पर्यावरण— पर्यावरण का अर्थ अपने चारो ओर का वातावरण होता है। जिसमें हम जीते हैं। सांस लेते हैं। भोजन करते हैं। जल पीते हैं। अपने आपको स्वस्थ और सम्पन्न बनाते हैं। यह पर्यावरण स्वच्छ और निर्मल हो, इसके लिए प्रयास हो रहे हैं। वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न खाकर हम सब प्राणी जीवित रहते हैं। बिना वर्षा के जीने की कल्पना नहीं की जा सकती। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभाद् वृष्टिः अग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति"।

शतपथ काण्ड ५, अध्याय ३

ऋग्वेदादि भास्य भूमिका में महर्षि दयानन्द जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है– जो होम करने का द्रव्य अग्नि में डाले जाते है, उनसे धुंआ और भाफ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न–२ कर देता है। फिर वे हल्के हो के वायु के ऊपर आकाश में चढ़ जाते है। उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहलाता है और जो शुल्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। वे परमाणु मेघ मण्डल में वायु के आधार से रहते हैं। फिर वे परस्पर मिल के बादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है"। वृष्टि यज्ञ में करीर वृक्ष के जड़, समिधा एवं फलों की आहुति का विधान किया गया है[2]।

पौर्णमास इष्टि में दीक्षित होने वाला पुरुष आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियो के बीच पूरब की ओर खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। इस जल के स्पर्श का क्या कारण है? जल मेध्य होता हैं, अर्थात् यज्ञ के लिए उपयोगी होता है। झूठ बोलने

१- शतपथ ब्राह्मण १४/२/१/१
२- कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता २/४/७-१० तथा काठक संहिता ११/९-१०/२१-३२

वाला व्यक्ति यज्ञ करने के लिए उपयुक्त नहीं होता । अत: जल के स्पर्श से वह पापों को दूर कर मेध्य बनता है । जल पवित्र होता है । अत: जल के स्पर्श करने से व्यक्ति पवित्र होकर दीक्षित होता है । इसलिए जल को स्पर्श करता है[1] ।

यज्ञ से पर्यावरण शुद्ध होता है । सभी प्रकार के रोगों की निवृत्ति होती है । समस्त कर्मों में यज्ञ ही श्रेष्ठतम माना जाता है[2] । ब्राह्मण ग्रन्थों मे यज्ञ की इतनी महिमा है तथा आदर है कि विश्व का सबसे श्रेष्ठ देवता प्रजापति भी यज्ञ का ही रूप है[3] । विष्णु का प्रतीक यही यज्ञ है । "यज्ञों वै विष्णु" । आकाश में देदीप्यमान आदित्य भी यज्ञरूप है[4] । समस्त कर्मों में श्रेष्ठतम होने के कारण इस विश्व में यज्ञ ही परम आराध्य वस्तु है । जगत् के जितने पदार्थ है, यहां तक कि देवों का जनकरूप प्रजापति भी यज्ञ के ही आध्यात्मिक प्रतीक हैं । यज्ञ से ही सृष्टि हुई है । अग्निहोत्र के अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापों से छूट जाता है[5] ।

१- अमेध्योवै पुरुषो यदनृत वदति तेन, पूतिरन्तरतः । मेध्या वा आपः । मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति पवित्रं वा आपः । पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति ।। शतपथ १/१/१/१

२- यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । शतपथ १/७/३/५

३- एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यत् प्रजापतिः । शतपथ ४/३/४/५

४- स य यज्ञोऽसो आदित्यः । शतपथ १४/१/१/१६

५- सर्वास्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति । शतपथ ब्राह्मण २/३/१/६

शिक्षा के बदलते मूल्य

डा० कृष्ण अवतार अग्रवाल
अंग्रेजी विभाग, गु० कां० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारत में शिक्षा का अर्थ आत्म संस्कृति, आत्म समृद्धि, आत्म शुद्धि, आत्म ज्ञान और आत्म साक्षात्कार की क्रिया से था, जो मनुष्य के जीवन पर्यन्त चलती है। विद्वान् मानते थे कि शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जिससे जीवन के हर क्षेत्र में उचित मार्ग दर्शन प्राप्त होता है। जीवन को एक सिलसिले से संचालित करने के लिए शिक्षा को एक ऐसी आवश्यकता माना जाता था जो भूख और प्यास को संतप्त करने की आवश्यकता से भी अधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा "विश्व बन्धुत्व" की भावना को बढ़ाती थी। 'यजुर्वेद' में कहा गया है कि हमारा विश्व एक परिवार है। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पंचतन्त्र" में भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात कही गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीयता की सद्भावना एवं नैतिक मूल्यों को प्रसारित करने के लिए ही प्राचीन भारत मे तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई थी। इनमें तक्षशीला सबसे पुराना विश्व विद्यालय था, जो पश्चिमी पंजाब (वर्तमान मे पाकिस्तान) के रावल पिंडी शहर से लगभग २८ किमी. दूर था। महर्षि पाणिनि यहीं की विभूति थे। चाणक्य ने यहीं पर अपनी राजनैतिक शिक्षा का प्रसार किया था, तथा शिक्षा के आदर्श मूल्यों को गुरुकुल पद्धति के द्वारा स्थापित किया था। भारत का दूसरा प्राचीनतम विश्वविद्यालय नालन्दा विश्वविद्यालय था। यह विश्वविद्यालय बौद्ध धर्म की शिक्षा का मुख्य केन्द्र था। यहां के प्रमुख आचार्य प० शीलभद्र ने विदेशी छात्रों को भारतीय मूल ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए भारत आने के लिए आकृष्ट किया था। बिहार के ही दूसरे प्राचीनतम 'विक्रम शिला' विश्वविद्यालय के आचार्य दीपशंकर श्रीज्ञान ने उच्च कोटि का ज्ञान छात्रों को प्रदान किया।

विश्व आज भी भारत के इन शिक्षाविदों को 'संस्कृति पुरुष' एवं चेतना के स्रोत' के रूप मे स्मरण करता है। इन भारतीय संस्कृति से जुड़े महान शिक्षकों का सम्बन्ध राजनीति के साथ भी था। ये शिक्षक राजनीति के साथ-२ हमारी संस्कृति हमारे भारतीय मूल्य, हमारी चिन्तन पद्धति, हमारे व्यक्तित्व, सामाजिक मूल्य एवं राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए छात्रो को प्रेरित करते थे। तब शिक्षा जीवन का सार

थी। परन्तु आज शिक्षा का पाश्चात्य करण हो चुका है। आधुनिक शिक्षा पद्धति अंग्रेजी शिक्षा एवं पाश्चात्य दर्शन से केवल प्रभावित ही नहीं अपितु अपनी मूल संस्कृति को भी भूलती जा रही है। आज एक विचित्र प्रकार का 'नव जागरण' का माहौल तैयार होता जा रहा है। रट कर अथवा नकल कला के द्वारा पास हो जाना आधुनिक छात्र की संस्कृति बन गई हैं। जहां शिक्षा नैतिक मूल्यों की रक्षा करती थी वहां आज छात्र केवल डिग्री के आधार पर नौकरी की तलाश में भाग रहा है। मैकाले की यह शिक्षा अक्षर ज्ञान तो कराती है परन्तु वास्तविक बौद्धिक ज्ञान, आत्म ज्ञान, नैतिक चरित्र निर्माण कराने में असफल है। इस शिक्षा ने आज के नवयुवकों को केवल मात्र भटकाव, अलगाववाद, साम्प्रदायिकता, बेरोजगारी, तनाव तथा अश्लील चौली एवं सैक्सी संस्कृति ही प्रदान की हैं।

वतर्मान समय मे हमारी शिक्षा पद्धति का ढाँचा अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् भी अंग्रेजी शिक्षा पर ही आधारित है। जिससे हमारे भारतीय प्राचीन विचारों, सिद्धांतों और परम्पराओं को महत्व न देते हुए पाश्चात्यकरण ही किया गया है। सौभाग्य से हमारे देश में शिक्षा का वास्तविक पुनर्जागरण अनेक युग पुरुषों द्वारा हुआ, जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक धरोहर को बचाने के लिए अनेक योगदान दिये। राजा राम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, भगवान आदिनाथ, महावीर स्वामी, महाराज अग्रसेन, संत महामति, प्राणनाथ, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी बापाजी, आचार्य नरेन्द्र देव, डा० राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहर लाल नेहरू तथा अनेक अन्य शिक्षाविद् धर्मगुण राजनीति के चेतना स्रोतो ने प्राचीन विचारों, सिद्धान्तों और परम्पराओं को तार्किक बुद्धि के आधार पर देखा क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसका निर्णय विश्वास पर नहीं बल्कि तर्क के आधार पर किया जाये, इस बात पर जोर दिया। उन्होने भारत में विचारों की क्रांति के द्वारा पुनर्जागरण आन्दोलन को प्रारम्भ किया। यही भावना विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक आदि सभी क्षेत्रो में परिवर्तन का कारण बनी। इन्ही शिक्षाविदों ने आधुनिक भारत का निर्माण किया। आधुनिक युग में राजाराम मोहन राय स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी विवेकानन्द जैसे धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों ने वेदों, धर्म ग्रन्थों, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति को अपने विचारों का आधार बनाया तथा तर्क, समानता और असमानता, सामाजिक

कुरीतियों से घृणा, स्त्री शिक्षा और समानता, जाति प्रथा का विरोध और मानवता का सन्देश, राष्ट्रीय एकता पर बल, आदि का प्रचार प्रसार किया।

भारतीय शिक्षा में धर्म के पाखंड को दूर करने, दुराचार और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया गया। सती प्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह, बाल—हत्या जैसे अनेक अमानवीय कृत्यों को जन जागृति एवं शिक्षा द्वारा समाप्त किया गया, तथा विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, जाति प्रथा का विरोध, अस्पृश्यता का विनाश आदि अनेक सुधारों का बीड़ा उठाया गया। देश के अनेक शिक्षाविदों ने राष्ट्रीयता का निर्माण राजनीतिक विचारों और राजनीतिक आन्दोलनों के द्वारा किया है।

विगत दो–तीन दशकों से शिक्षा के मूल उद्देश्य बदलते जा रहे हैं। हमारी शिक्षा का जो स्वरूप पहले था वह आज नहीं है। यह शिक्षा छात्रों का शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास करने में सफल नहीं हो पा रही है। मानवीय गुणों के विकास में यह कोई सहयोग नहीं दे पा रही है। जबकि शिक्षा के मूल उद्देश्य उनमें माता–पिता, गुरुजन, परिवार समाज एवं राष्ट्र के प्रति आस्था जागृत करना है। उनमें शिक्षा द्वारा आध्यात्मिकता का बोध करना है। परन्तु आज ऐसा नहीं हो पा रहा है। दुर्भाग्य है कि सरकार अपनी राजनीतिक दल-दल के कारण छात्रों को कोई व्यवस्थित कार्यक्रम नहीं दे पा रही है। दूषित परीक्षा प्रणाली छात्रों को अव्यावहारिक शिक्षा प्रदान कर रही है, जिस कारण आज के छात्र में उद्दण्डता तथा अनुशासनहीनता का विकास हो रहा है। आज परीक्षाओं में नकल संस्कृति विद्यमान है। शायद ही कोई परीक्षा केन्द्र ऐसा हो जिसमें इक्का–दुक्का अथवा सामूहिक नकल की घटनाएं न घटित होती हो। छात्रों को नकल करने में वे जहां तक स्वयं दोषी है उससे कहीं अधिक सामाजिक ढांचा दोषी है। आज की गलाकाट प्रतिस्पर्धा और भ्रष्टाचार भरे माहौल में जब छात्र देखता है कि महत्त्व योग्यता, अयोग्यता का नहीं, डिग्री और सिफारिश का है, पहुंच का है तो अर्जुन की तरह उसकी आंख डिग्री की मछली पर गढ़ जाती है और वह येन केन प्रकारेण उसे पाने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। यदि उसे लगता है कि परीक्षा केन्द्र पर नकल करके भी अच्छे अंक प्राप्त किये जा सकते है तो वह ऐसा करने में संकोच नहीं करता और इस अनैतिक कार्य से वह इस

लिए नहीं घबराता क्योंकि वह जानता है कि पकड़े जाने पर भी उसको कोई समुचित दण्ड नहीं मिलेगा। इस नकल संस्कृति में शिक्षा के स्तर में निरंतर गिरावट आ रही है और उच्च शिक्षा का स्वरूप नालन्दा, तक्षशिला और विक्रम की परम्पराओं को मुंह चिडाता सा प्रतीत होता है। आज शिक्षक न तो शिक्षण के प्रति उत्तरदयी है और न ही विद्यार्थी शिक्षा की अहमियत और मूल्यों के प्रति जागरूक है। इसीलिए आधुनिक अर्थशास्त्र के पिता एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन में महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों से शिक्षा के गिरते स्तर पर प्रकाश डाला और अपनी चिंता जाहिर की।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पूर्ण रूप से यूरोप से ली गई है। इस शिक्षा में जहां एक ओर छात्र दोषी है वहा अध्यापक भी अपने उत्तरदायित्व से नही बच सकते। आज शिक्षक विद्यार्थियों के प्रति जवाब दे नहीं रहे हैं, वे अपने वेतन और भत्ते के प्रति आश्वस्त हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आज कर्मठ अध्यापकों का अभाव है परतु हमारा सामाजिक और शैक्षणिक वातावरण ही ऐसा बन गया है कि कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यापक भी शिक्षा की अव्यवस्था के कारण अन्ततः निराश हो जाता है। आज इस प्रकार की विचित्र परिस्थितियां उत्पन्न हो गई है कि आज का कर्मठ अध्यापक भी अपने को दो ध्रुवों के बीच अपमानित महसूस करता है। वह अपने अधिकारियों के सामने, समाज के समाने, दफ्तरों के बाबुओं के आगे और यहां तक कि अपने छात्रों के आगे भी वह अपने आपको असहाय अनुभव करता है। शिक्षक संघ भी आज स्वार्थ सघ में बदल चुका है। उसे शैक्षणिक वातावरण को स्वस्थ बनाने मे कोई रुचि नही है। गुरु–शिष्य सम्बन्ध भी आज के परिवेश मे बदल चुका हैं। 'गुरु गोविन्द दोउ खड़े काको लागू पाय, बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दिया बताय" को लिखने वाला अगर इस दुनिया में होता तो शायद अपना सिर पीट लेता। क्योंकि आज उसकी आत्मा इस दोहे की प्रासगिकता पर बहस करने के लिए अवश्य तड़प रही होगी। आधुनिक परिवेश में गुरुओं और शिष्यों के बीच कोई भावात्मक लगाव शेष नहीं रहा है। व्यवसायिक मात दण्डों एवं भौतिकवादी जीवन दर्शन ने इस पवित्र सम्बन्ध के बन्धन को ढीला कर दिया है। आज गुरुओं शिष्यों के बीच सौहृदयता की जगह

स्वार्थ के रंग में सराबोर मानसिकता ने ले ली है।

दुर्भाग्य से आज कुछ शिक्षक भी क्षेत्रवाद, जातिवाद, धार्मिकता, धन तथा स्टेट्स के समीकरणों का आकलन करने लगे है जो एक गुरु शिष्य के सम्बन्धों में विकार उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार के गुरुओं से मार्गदर्शित शिष्य गण शिक्षा संस्थाओं के शैक्षणिक वातावरण को प्रदूषित करने की कुचेष्टा करते हैं। आज शिक्षक भी वर्तमान भौतिक मायामोह में फसता जा रहा है। अनेक पत्र पत्रिकाओं में ऐसे शिक्षकों के उदाहरण मिलते हैं जो अपनों पे करम, गैरों पर सितम का फार्मूला अपनाते है। आज के शिक्षक गण कुछ शिष्य विशेष तक ही ध्यान देकर उन्हें विशेष सुविधाएं देना चाहते हैं, जबकि ये ही शिक्षक अन्य छात्रों के साथ सख्ती से पेश आते हैं। जिसका परिणाम यह निकलता है कि ऐसे शिक्षकों के प्रति आम छात्रों में काफी रोष का वातावरण बन जाता है और गुरु-शिष्य सम्बन्धों में माधुर्य नहीं रह पाता। इसी कारण शालीन शिष्यों को यदा-कदा तिरस्कार का सामना करना पड़ता है जब कि बम और गोली की भाषा से बोलने वाले छात्रों को हर प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त रहती है। इसका दुष्परिणाम यह निकल रहा है कि आज कालेज और विश्वविद्यालय परिसरों में अराजकता का माहौल व्याप्त है। धूर्त, गुंडाई तथा दादागिरी वाले छात्रों ने इन परिसरों में अपनी साख बना ली है। शिक्षकों में व्याप्त गुटबाजी ने भी उद्दण्ड छात्रों को प्रेरित किया है वे अपने निजी स्वार्थों के लिए इन हिंसा प्रेमी छात्रों का प्रयोग करते हैं, जो शिक्षा जगत् के लिए एक दुर्भाग्य की बात है। शिक्षा के मन्दिर में इस प्रकार का गुरु शिष्य सम्बन्ध उचित नहीं है।

शिक्षा के इस पवित्र मन्दिर में सभी गुरु एवं शिष्य बम और गोली की संस्कृति की बोली बोलने वाले हो, ऐसी बात नहीं है। सारे शिष्य और गुरुओं में टकराव होता हो ऐसी भी बात नहीं है। आज भी परिश्रमी गुरुभक्त, शिक्षा प्रेमी, अनुशासन अपनाने वाले शिष्य हैं तथा उन्हें शिक्षा देने वाले आज भी आदर्श शिक्षक हैं। परन्तु एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है तो भले ही संख्या में कम हो स्वार्थ के दाग बन चुके कुछ गुरुओं और शिष्यों ने 'गुरु शिष्य की स्वस्थ परम्परा' का नाश करने में कोई कसर नही रख छोड़ी है।

छात्रो में चरित्रहीनता, अनुशासनहीनता, अनैतिकता केवल शिक्षा परिसरो की ही देन नहीं है अपितु इसकी शुरुआत घर से ही होती है। माता-पिता भी इसके भागीदार हैं। वे यह भूल जाते हैं कि घर की स्थिति परिवार का रहन-सहन, माता-पिता के आचार-विचार, दृष्टिकोण और नैतिक चरित्र का छत्रों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। समाज भी आज आध्यात्मिक संस्कृति को भूल चुका है। शिक्षा की आवश्यकता किसी व्यक्ति से अधिक किसी समाज को अधिक होती है व्यक्ति सिर्फ अपने लिए शिक्षित नहीं बनता बल्कि सारे समाज के लिए शिक्षित होता है। समाज स्वयं को जीवित व प्रगतिशील बनाए रखने के लिए जिन आदर्शों की कल्पना करता है शिक्षा उन कल्पनाओ को वास्तविक रूप प्रदान करने मे मदद करती है। शिक्षा द्वारा ही समाज जीवित रहता है। वर्तमान शिक्षा चूँकि पश्चिम से प्रभावित है अतः हम अपनी मूल संस्कृति को भूलकर पश्चिमी देशों की सभ्यता के गुलाम बन चुके है। हमारी सरकार भी इस पश्चिमीकरण को प्रोत्साहित करती है जिस कारण आज की समस्त शिक्षा नीतियां समाज को चरित्रवान् नागरिक नही दे पाती।

परिवर्तन एक शाश्वत नियम है। काल चक्र मे बदलती सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों के फल स्वरूप वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के व्यावहारिक पक्षों में अनेक दोष व कमियां परिलक्षित होती है। आज शिक्षा के पहलू में सुधार के लिए समितियो का गठन करना एक फैशन बनता जा रहा है। उन पर सैद्धान्तिक रूप में विचार होता है और बाद में फाइलों में बन्द करके अलमारियों मे रख दिए जाते है। वास्तव में शिक्षा का लक्ष्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास तथा उपयोगी नागरिकों का निर्माण होना चाहिए। शिक्षा का मूल लक्ष्य छात्रों को मानवीय गुणो से युक्त करना होना चाहिए। अतः आधुनिक शिक्षा को बदलती हुई सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार उपयोगी बनाया जाना चाहिए। इसमें छात्र, शिक्षक, समाज और सरकार सभी का समान सहयोग परम आवश्यक है। वर्तमान मे शिक्षा कोरे सिद्धान्तों एवं आध्यात्मिकता पर टिकी नहीं रह सकती और न ही वह पश्चिमी देशों के भौतिकवाद के एक पक्ष को अपनाकर रह सकती है। हमें वर्तमान परिपेक्ष्य में दोनों ही (आध्यात्मिक, भौतिकवाद) के मध्य का व्यावहारिक मार्ग अपनाना होगा। तभी गुरुओं के बीच में सौहार्दता कायम रह सकती है। उनमें चारित्रिक गुण, अनुशासन, नैतिकता, देश प्रेम, आत्म संस्कृति, आत्म समृद्धि, आत्म शुद्धि, आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार जागृत हो सकता है और वे देश के अच्छे नागरिक सिद्ध हो सकते है।

वैदिक शिक्षा-प्रणाली में परिवेश और नैतिक मूल्य

—डा० (श्रीमती) शशिप्रभा कुमार
रीडर, संस्कृत विभाग
मैत्रेयी कालेज, दिल्ली वि. वि.

वेद समस्त विद्याओं का मूल उत्स है। शिक्षा, कल्प व्याकरण, दर्शन, ज्योति, संगीत आदि सब शास्त्रों का उद्गम वेद से ही माना जाता है[1]। क्योंकि वेद का प्रत्येक वाक्य उस सर्वज्ञ ईश्वर का वचन है तथा बुद्धिपूर्वक उक्त है[2]। वेद में वर्णित आदर्शों के अनुसार विचार करने पर वैदिक शिक्षा–प्रणाली के विषय में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं उनमें से परिवेश और नैतिक मूल्यों से सम्बद्ध संकेतों का संश्लेषण ही प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य है।

सामान्यत: शिक्षा और विद्या पद पर्याय समझे जाते हैं किन्तु वेद में शिक्षा की गणना छः वेदाङ्गों में की गई है और उसे वेद रूपी पुरुष का घ्राण कहा गया है[3]। वैदिक आदर्श में शिक्षा शब्द वेदाङ्गवाचक तो है ही, विद्या या ज्ञान की प्राप्ति का साधन भी है। शिस् विद्योपादाने से व्युत्पन्न शिक्षा शब्द यही स्पष्ट करता है कि शिक्षा साधन है तथा विद्या साध्य-शिक्ष्यते उपादीयते विद्यामाया सा शिक्षा। अत: शिक्षा का व्याकरण सम्मत अर्थ है–विद्या को ग्रहण करना और शिक्षा का प्राचीनतम स्रोत वेद ही है। वेद के अनुसार विद्या मुक्ति का साधन है–'सा विद्या या विमुक्तये' तथा विद्या से मनुष्य अमृतपद को प्राप्त करता है[4]। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास का हेतु है–मानव की अन्तर्निहित प्रतिभा को प्रबुद्ध कर उसके दोषों और विकारों का परिमार्जन करके उसे पूर्णता प्राप्त करना ही शिक्षा का लक्ष्य है। वैदिक शिक्षा केवल भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित न रहकर 'आत्मचिन्तन' का ध्येय निर्धा-

---

१. शास्त्रयोनित्वात्। —ब्र सू. १.३ (शास्त्रयोनित्वाधिकरण)

२. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्, (बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। – वै. सू. १/१/३ तथा ६/१/१

३. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य। –पाणिनीय शिक्षा, ४२

४. विद्ययाऽमृतमश्नुते। –ईशोपनिषद् १४' मनुस्मृति १२/१०४

रित करती है, अतः शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा-मानव- व्यक्तित्व के इन चारों पक्षों का समग्र विकास वैदिक शिक्षा-प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य रहा है। तदनुसार शिक्षा अखण्ड सत्य का बोध कराने वाली तथा अध्यात्मपरक होनी चाहिए[1], वस्तुपरक नहीं। सच्ची शिक्षा आत्मोत्कर्ष का साधन है, न की केवल वस्तुओं के ज्ञान का संग्रह उसका सम्बन्ध आन्तरिक व्यक्तित्व का परिष्कार करने से है, बाह्य भौतिक तत्वों का संकलन करने भर से नहीं। अतः वैदिक शिक्षा का माध्यम योगविज्ञान या चित्तवृत्तिनिरोध है तथा यप मस्तिष्क– नियन्त्रण की प्रक्रिया है ताकि गहनतर कोशो तक विश्रान्त मन अपने समग्र क्षमता को प्रस्फुटित कर सके एवं अखण्ड सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सके। इसके लिए केवल अक्षर ज्ञान प्राप्त नहीं, अपितु पूर्ण मानव व्यक्तित्व का विकास करना अनिआर्य है। अतः वेद के अनुसार जो शिक्षा केवल साक्षरता मात्र है जिसमे केवल लौकिक और भौतिक ज्ञान का समावेश है, अन्तर्जगत् का मान नहीं, अध्यात्मवाद का पुट नहीं परिवेश की चेतना और नैतिक मूल्यों का बोध नहीं, जिसमें केवल अभ्युदय का ज्ञान है और निःश्रेयस् को भुला दिया गया है, वह शिक्षा अधूरी एवं निष्प्रयोजन है[2]। वेदमत्रों में जिस गायत्री मंत्र का अत्यधिक माहात्मय है, उसी मंत्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी में बुद्धि का विकास करना और सदाचार को बढ़ाना—ये वैदिक शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य थे[3]। शिक्षा, शिक्षण, प्रशिक्षण शब्दों का जो अर्थ आज है, वह उस समय नहीं था। ऋग्वेद में √शिक्ष् का अर्थ देना है[4] जैसे कि वसिष्ठ की एक ऋचा से प्रतीत होता है—हे पुरुहूत इन्द्र, जो तुम्हारा बल है, उसे सखा मनुष्यों को दो[5] अतः शिक्षा में 'लेना' नहीं, देना प्रधान था।

परिवेश वैदिक शिक्षा-पद्धति गुरुकुलीय एवं यज्ञ प्रधान थी जहां परिवेश या पर्यावरण शिक्षा-प्रणाली का अविभाज्य अंग था तथा केवल स्थान विशेष नहीं, अपितु समग्र

---

१. अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। –भागवद्गीता, १०/३२

२. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ? ऋ. १/१६४/३९

३. ऋ. ३/६२/१०

४. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, पृ. १४७

५. य इन्द्र शुष्मो मघवते अस्ति शिक्षा पुरुहूत नृभ्यः। ऋ.७/२७/२

विश्व की पवित्रता एवं शान्ति उसका ध्येय था। इस दृष्टि से वैदिक शिक्षा-प्रणाली में परिवेश के पोषक तत्त्व तीन माने जा सकते हैं—

(क) संस्कार–इसमें परिवार या माता-पिता का महत्व अधिक था।

(ख) गुरुकुल– इसमें आचार्य या शिक्षक का योगदान प्रमुख था।

(ग) यज्ञ–इसमे समाज या वातावरण का विशेष ध्यान था।

(क) संस्कार -वैदिक ऋषियों ने मानव की अन्तर्भूति को उदात्त बनाने तथा उच्चता की दिशा में विकसित करने के लिए कुछ ऐसे सूक्ष्म उपचारों का आविष्कार किया जिनका प्रभाव शरीर तथा मनपर ही नहीं, अपितु सूक्ष्म अन्तःकरण पर भी पड़ता है और उसके प्रभाव से मनुष्य को गुण, कर्म और स्वभाव की दृष्टि से समुन्नत स्तर की ओर बढ़ने में सहायता मिलती है। इस सूक्ष्म आध्यात्मिक उपचार को हमारे आचार्यों ने 'संस्कार' नाम दिया। इसका आधार यह विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ कुछ गुण अवगुण लेकर ही पैदा होता है। वृद्धि के साथ उस पर नये संस्कार भी पड़ते रहते हैं। अतः पुराने संस्कारों को प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्धन अथवा उन्मूलन करने, प्रतिकूल संस्कारों को नष्ट करके अनुकूल संस्कारों को निर्माण करने का विधान संस्कार—पद्धति कहा गया।

वैदिक शिक्षा-प्रणाली 'संस्कार पद्धति' पर आधारित होने से सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। वैदिक ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीनकाल में ही मनुष्य के अवचेतन मन का ज्ञान प्राप्त कर यह समझ लिया था कि उसकी समस्त क्रियाओं, विचारों तथा उद्वेगों आदि का कारण उसकी अवचेतन भावनायें है। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार इस अवचेतना को बनाने वाले घटक 'संस्कार' हैं जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञान ससेचन, काम प्रसुप्ति, अवशेष आदि नामों से जानता है[1]। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार संस्कार-सिद्धान्त शिक्षा का मूलाधार है। संस्कारों के आधार पर बालक की उत्पत्ति से पूर्व, गर्भावस्था में आने पर था उससे भी पूर्व बीजरूप में शिक्षण हो सकता था और बालक को जैसा बनाना हो, उसको वैसा बनाने के लिए माता और पिता अपने संस्कार एवं प्रयत्नों से

---

१. लज्जाराम तोमर, शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार, कल्याण (शिक्षाङ्क) पृ० २३९

वैसा बना सकते है[1]। अतः शिक्षा का संबंध बालक के जन्म से भी पूर्व से लेकर उसके परिपक्व नागरिक बनने तक निरन्तर रहता है। माता-पिता के संस्कारों से सन्तान के आरम्भिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके इन संस्कारों को विकसित करने में सहायक होता है। इस पद्धति को 'संस्कार पद्धति' कहते हैं। संस्कारों की इस शिक्षण पद्धति से बालक का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। वास्तव में वैदिक शिक्षा-प्रणाली संस्कार -पद्धति पर ही आधृत है क्योंकि मानव को संस्कृत करना ही वैदिक शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य रहा है। ज्ञान के उपार्जन और बुद्धि के परिमार्जन में ही नहीं शिक्षार्थियों के नैतिक चरित्र और संस्कृत व्यक्तित्व के निर्माण में भी संस्कारों का बड़ा महत्त्व है। जैसे मिट्टी के नये, बर्तन पर खींची गयी लकीर हमेशा के लिए अङ्कित हो जाती है, वैसे ही कोमलमति शिशुओं[2] के अबोध अन्तःकरण पर पड़े हुए संस्कार अमिट होते है। वैदिक संस्कृति में सोलह संस्कारों की परम्परा मानव- प्रकृति के सांस्कृतिक उन्नयन की ही प्रक्रिया थी। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में संस्कार-सिद्धान्त की घोर उपेक्षा की जा रही है, अतः संस्कार शून्य नई पीढ़ी की शिक्षा पूर्णतः निष्फल हो रही है क्योंकि संस्कार परिवेश के सर्वप्रथम सूक्ष्म घटक तत्त्व हैं।

(ख) गुरुकुल शिक्षा में परिवेश को महत्त्व देने के कारण ही वैदिक ऋषि-मुनियों ने गुरुकुल-पद्धति का आविष्कार किया था। ये गुरुकुल ग्रामों और नगरों से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में होते थे तथा उनकी नैसर्गिक जलवायु और सात्त्विक आहार-विहार के परिवेश में प्राप्त शिक्षा सार्थक एवं सफल होती थी। आज जिस पर्यावरण-चेतना की चर्चा चल रही है, वह गुरुकुल पद्धति का अनिवार्य अंग था। वैदिक काल में विद्यार्थी आचार्य के आश्रम में रहकर उसके 'अन्तेवासी' बनकर शिक्षा ग्रहण करते थे। शिक्षक आचार्यों के ये आश्रम वहीं हो सकते थे जहां गुरुकुल की गौओं को चराने के लिए घास का विस्तृत भूभाग हो, यज्ञकर्म की समिधाओं के लिए आसपास हरे-भरे वृक्षों वाले

---

१ वीरसेन वेदश्रमी, वैदिक सम्पदा, पृ० ३२०

२. यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्। -रघुवंश

वन हों तथा स्नानादि क्रियाओं के लिए पास ही सरिता या सरोवर हो। वन्यसम्पदा का पोषण, गोसंरक्षण और कृषिकार्य वैदिक शिक्षा प्रणाली के महत्त्वपूर्ण घटक थे। गोपालन एव कृषिकार्य के द्वारा शिक्षार्थियों को पर्यावरण-संरक्षण और गोदोहन हेतु उपयोगी प्रशिक्षण तो मिलता ही था, शारीरिक श्रम एवं व्यायाम के वे सब लाभ भी मिलते थे, जो कि आधुनिक युग के फुटबाल एवं हाकी जैसे व्यर्थ के खेलों से अधिक उपयोगी थे[1]।

गुरुकुलाधारित वैदिक शिक्षा–प्रणाली केवल पुस्तकीय ज्ञान पर बल नहीं देगी उसमें व्यावहारिक आदर्श और चरित्र-निर्माण समान रूप से महत्त्वपूर्ण माने गये थे। मनोरम प्राकृतिक वातावरण में रहकर बलिष्ठ शरीर का निर्माण, समानता का जीवन जीकर सामाजिक चेतना की प्राप्ति तथा गुरु के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर आत्मिक विकास था सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व का उत्कर्ष गुरुकुल की देन है। वहां प्रत्येक शिक्षार्थी को बिना किसी भेद भाव के सामाजिक समानता तथा शारीरिक श्रम की शिक्षा दी ज ती थी। इसीलिए वैदिक ऋषि उद्बोधन देता है कि तुम सबके जल पीने का स्थान एक हो तथा भोजन करने का स्थान भी एक हो[2]। यही वैदिक समाजवाद की आधारशीला प्रतिष्ठित थी। इसी प्रकार वृक्षों और वनस्पतियों के प्रति सवेदना और संरक्षण की भावना[3] तथा द्युलोक को पिता और पृथिवो को माता[4] मानने वाले वै दक घोष पर्यावरण चेतना को एक मानवीय तथा भावात्मक भित्ति प्रदान करते है। वैदिक ऋषियों का यह विश्वास था कि वनस्पतियों में भी मनुष्यादि सदृश चेतना होती है हमें जैसा सुख दुःख होता हैं, वैसा वनस्पतियों को भी होता है। इस भावना को बुद्धिमय बनाने के लिए वेद में संसार को एक वृक्ष की उपमा दी गई है व कहा गया है

---

१. Mookerjee, Radhe Kumud Ancient Indian Education Prologue, P. xxix

२. समानी प्रपासह वोऽन्नभागः। –अथर्व ३/३०/६ तथा– सग्धिश्च में।–सपीतिश्च में। यजु० १८/६

३. मौषधोर्हिंसीः / औषधे त्रायस्व / सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। नाभिरत्र।– यजु. ६/२२ – यजु. ४/१ — यजु. ३६/२३

४. द्यौर्मे पिता जनिता माता महीयम्।– ऋ० १/१६४/३३

कि जैसे वनस्पति ऊपर जल चढ़ाकर मेघ को बढ़ाते और सूर्य अन्य लोकों को धारण करता है, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या को चाहने वाले विद्यार्थी को बढ़ाते हैं[1]।

इस प्रकार गुरुकुल-पद्धति में प्रकृति के सतत साहचर्य में अपने परिवेश के प्रति जागरुक रहकर जो शिक्षा अर्जित की जाती थी वह शिक्षार्थी को कष्टसहिष्णु, संयमी, उदार एवं परिश्रमी तो बनाती ही थी, उसके अन्तर में प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना भी जगाती थी। इस पद्धति को 'गुरुकुल-पद्धति' कहना इस बात का सूचक है कि इसमें गुरु का महत्व सर्वोपरि था तथा शिक्षार्थी को अपने परिवार के संकीर्ण दायरे से निकलकर विराट् मानव-कुल की भावना में दीक्षित किया जाता था। जब राजा और रंक सभी प्रकार के बालक साथ-२ समभाव से रहते थे तो वैदिक 'संगठन[2]' के आदर्श मानो साकार हो उठते थे। इसी पद्धति को ध्यान में रखकर गांधी, विनोबा तथा जाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम की नींव डाली तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शान्तिनिकेतन इसी सांचे में ढला हुआ था। गुरु-शिष्य की माता पिता जैसे सम्बन्ध ब्रह्मचर्य-पालन, समान शिक्षा तथा समान रहन-सहन पर आधारित गुरुकुलीय परम्परा से ही अध्यात्ममूलक समतावादी समाज की स्थापना का लक्ष्य पूरा हो सकता है[3]। भौतिक भोगों से भरे विषयाकुल एवं जनसंकुल संस्थानों में रहने वाले शिक्षार्थियों में परिवेश के प्रति जागृति सम्भव नहीं, उसके लिए एकान्त, शान्त प्रकृति का सहवास अनिवार्य है-यह सत्य वैदिक आचार्यों ने हृदयङ्गम कर लिया था, इसीलिए वैदिक संस्कृति एवं शिक्षा-प्रणाली का विकास आश्रमों एवं गुरुकुलों में ही हुआ है। गुरुवर रवीन्द्रनाथ टैगोर का यह कथन सर्वथा सत्य है कि भारत में सारी सभ्यता का स्रोत नगर नहीं, अपितु वन ही रहे हैं। यहां वृक्ष एवं वनस्पति, नदियों एवं निर्झर मनुष्यों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध में रहे हैं। वहां पर्याप्त खुला स्थान एवं एकान्त होता था, भीड़ नहीं। किंतु इस एकान्त ने भारतीय मानस में निष्क्रियता नहीं जगाई, अपितु उसे और अधिक उज्वल बनाया[4]।

---

१. यजु. २८/२० तथा-माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। -अथर्व. १२/१/१२
२. ऋ. १०/१९१/१-४
३. विष्णुदत्त राकेश, प्राचीन भारत में गुरुकुल की परम्परा, कल्याण शिक्षाङ्क, पृ. २७३
४. राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा प्राचीन भारतीय शिक्षा, प्रस्तावना, पृ. ३५ पर सकेतित

(ग) यज्ञ— वेद कालीन शिक्षा पद्धति में यज्ञ का प्रधान स्थान था। शिक्षा और सम्मेलनों का केन्द्र यज्ञ था। यज्ञों के कई प्रकार थे— अश्वमेध, पुरुषमेध, सोमयाग, वाजपेय, गोमेध आदि। इनका यह अर्थ कदापि नहीं था कि अश्वमेध मे घोड़ा मारो या पुरुषमेध में नरबलि दो। सत्य तो यह है कि अश्वमेध में राष्ट्र रक्षा और उन्नति के सम्मेलन होते थे। अश्वों की प्रदर्शनी उसका भाग था। अश्व का अर्थ शतपथ मे राष्ट्र किया है। मेध का अर्थ भी मारना नहीं, पूजा या यथार्थ उपयोग है। अतः गोमेध का अर्थ गौ आदि पशुओं की प्रदर्शनी और उन्नति के उपाय है[1]।

यज्ञ वैदिक शिक्षा–प्रणाली का केन्द्र था। इसके माध्यम से शिक्षार्थियों को आत्म–समपर्ण एवं त्याग की शिक्षा दी जाती थी तथा धर्म के वास्तविक स्वरुप से परिचय कराया जाता था। यज्ञ के विविध प्रकारों, पंचमहायज्ञों से मनुष्यो को अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग बनाया जाता था। यज्ञ व्यक्ति को क्रमशः धर्म के सोपानों पर अग्रसर करते थे तथा धर्म के द्वारा वह ब्रह्म–साक्षात्कार तक पहुच सकता था। इस प्रकार यज्ञ या अग्निहोत्र के द्वारा शिक्षार्थी अपने हृदय में ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित करने की प्रेरणा लेता था। यज्ञ की यह स्थूल अग्नि मानो उस विराट ब्रह्माण्डीय अग्नि की प्रतीक है जिसका वर्णन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[2] में किया गया है।

वैदिक विद्वानों का विश्वास था कि यज्ञ करने वाला सदा उन्नत रहता है[3], उसके आत्म तेज में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। एक अन्य मन्त्र द्वारा ऋग्वेद ने संगतिकरण के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यज्ञ अर्थात् संगठन के कामों से प्रेम करने वाला ही मनुष्य को ज्ञान दे सकता है[4]। इसीलिए वेद कहता है कि महान्

---

१. पन्नालाल परिहार, वेद महाविज्ञान, पृ ४८७-८८

२. ऋ. १०/९०/६-९

३. ऊर्ध्वं ऊ षु णो अध्वरस्य होतरग्ने तिष्ठ देवताता यजीयान्। —ऋ. ४/६/१

४. स चेतयन्मनुष्यो यज्ञ–बन्धुः। — ऋ. ४/१/९

५. ऋ. ४/१०/२

यज्ञ से कल्याणकारी बल की प्राप्ति होती है[1]। इस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया के विधिपूर्वक सम्पादन से समस्त वायुमण्डल में व्याप्त प्रदूषण का परिशोधन होता है तथा उसमें निहित धार्मिक भावना के द्वारा पूर्वसंचित नैसर्गिक गुणों का परिशीलन मानव को सुसभ्य और सुसंस्कृत बनाते हुए समाजोचित व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करता है[2]। यही कारण है कि यज्ञ वैदिक शिक्षा–प्रणाली का प्रमुख साधन रहा है। शिक्षार्थी का प्रथम दैनिक कर्त्तव्य यज्ञ के लिए समिधायें लाना कहा गया है, तथा इसीलिए उपनिषदों में गुरु के पास जाने के लिए शिष्य का 'समित्पाणी' होना आवश्यक बताया गया है[7]। इसका तात्पर्य संभवत. यही था कि शिक्षार्थी आचार्य की सेवा करने एवं उसके घर की अग्नि प्रदीप्त रखने को प्रस्तुत है। इसी तथ्य को शतपथ ब्राह्मण मे इसी भांति प्रकट किया गया है कि ब्रह्मचारी समिदाधान करके अपनी आत्मा में ब्रह्मवर्चस या तेज को प्रदीप्त करता है, अपने अन्तःकरण को जाग्रत रखता है एव अमृतत्व का अधिकारी बनता है तथा किसी प्रकार की पीडा को प्राप्त नहीं करता[3]।

(घ) **नैतिक मूल्य**— वैदिक शिक्षा–प्रणाली उदात्त मानवीय भावनाओं और महान् नैतिक मूल्यों पर आधृत है। वेद भारतीय संस्कृति की शाश्वत निधि है और मानव-जाति के लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक सन्देशों के वाहक है[4]। अतः ऋत और सत्य, श्रद्धा, आशा, उत्साह, वीरता, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, तप एवं व्रत की महिमा मे ओत प्रोत वैदिक संस्कृति से अनुप्राणित वैदिक शिक्षा–पद्धति मे मानवीय और नैतिक मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक आदर्श के अनुसार शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञानार्जन का माध्यम नहीं, अपितु व्यक्तित्व निर्माण एवं आत्म–साधना का अनुशासन था। इसलिए उसके धारक नैतिक मूल्यों में से प्रमुख तीन पर विचार करना यहा अभीष्ट है, ताकि उसकी सार्थकता एवं प्रासंगिकता प्रकट हो सके तद्यथा–

---

१. भास्कर मिश्र, वैदिक शिक्षा मीमांसा, पृ. २२०
२. मुण्डक उप० १/२/१२
३. ब्रह्मचार्यसी त्याह। ब्राह्मण एवैनं तत्परिददा त्यवोऽशाने त्यमृतं वाऽ आपोऽमृत मशानेत्येवैनं तदाह कर्म कुर्विति वीर्यं वै कर्म वीर्यं कुर्वित्येवैनं तदाह मा सुषुप्थाऽ- इति मा मृथाऽ इत्येवैनं तदाहापोऽशाने त्यमृतं वाऽ आपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदाह तदेनमुभयतोऽमृतेन परिगृह्णाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कांचनामार्तिमृच्छति न स य एवं वेद। –शतपथ ११/५/४/५
४. मंगलदेव शास्त्री, वैदिक संस्कृति के तत्त्व, पृ० ११८

(अ) **ब्रह्मचर्य**— वेद में कहा गया है कि—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'[1]।

अर्थात् देवों ने ब्रह्मचर्य तथा तपस्या के बल पर मृत्यु को परास्त किया और अमर हो गये। वस्तुतः वैदिक शिक्षा पद्धति में सच्चरित्र और सुसंस्कृत शिक्षार्थी 'ब्रह्मचारी' के रूप में गुरुकुल में प्रविष्ट होते थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति के मूल में सबसे महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य था-ब्रह्मचर्य का अभ्यास जो प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अपरिहार्य था। आश्रम–व्यवस्था पर आधारित वैदिक संस्कृति में विद्या-ध्ययनककाल 'ब्रह्मचर्य आश्रम' ही कहलाता था इसीलिए अरण्य में रहने को भी ब्रह्मचर्य कहा गया है[2]। तथा ब्रह्म के स्वरूप में विचरण करना अर्थात् ब्रह्म का मनन करना भी ब्रह्मचर्य का अर्थ है।

वैदिक ऋषियों के अनुसार जीवन और प्राण का मूल स्रोत भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है और भौतिक तत्त्व का आध्यात्मिक सत्ता में आकर्षण ही ब्रह्मचर्य हैं। पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौधिक और अध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती हैं। वासनाओं को वश में कर लेने से उत्कृष्ट फल प्राप्त होते हैं। इसीलिए ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रबल कार्यशक्ति और अमोघ इच्छाशक्ति रहती है। ब्रह्मचर्य कोई प्राचीन रूढि नहीं है, यह तो संयम और साधना का सनातन मंत्र है। ब्रह्मचर्य-पालन शारीरिक की अपेक्षा मानसिक अधिक है, अतः इसमें मन का नियंत्रण बड़ा आवश्यक है। इससे जीवन में अदम्य उत्साह, शारीरिक बल और बौद्धिक शक्ति उत्पन्न होती है जो ज्ञान–प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

वस्तुतः शिक्षा या ज्ञान एक बौद्धिक प्रक्रिया है। अतः ज्ञान प्राप्ति की सफलता हेतु मन को शुद्ध, निर्विकार रखना अनिवार्य है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य वैदिक शिक्षा–पद्धति के प्रवर्तक ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही आत्मसात्

---

१. अथर्व ११/५/१६

२. यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। –छान्दोग्य – ८/५/३

कर लिया था। इसीलिए वैदिक शिक्षा–प्रणाली में ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया क्योंकि संयम और साधना की भूमि पर ही एकाग्रता एवं ज्ञान की सिद्धि संभव है। ब्रह्मचर्य वेद की शिक्षा का आरम्भ–बिन्दु था। शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक स्तर पर प्रत्येक विद्यार्थी को पूर्ण मानव, सुयोग्य गृहस्त और आदर्श नागरिक बनाना उस शिक्षा–प्रणाली का ध्येय था और ब्रह्मचर्य उसका प्रथम सोपान था। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं– ज्ञान, वेद, ईश्वर, वीर्यरक्षा, संयम, नियम, इनकी प्राप्ति और आचरण ही ब्रह्मचर्य है। जो विद्यार्थी इस प्रथम सोपान पर चढ़ता था और पूर्णतः संयमपूर्वक जीवन बिताकर ज्ञानोपार्जन करता था, वह ब्रह्मचारी कहलाता था। अतः प्रत्येक साधारण विद्यार्थी 'ब्रह्मचारी' नही हो सकता था, उसके लिए विशेष योग्यता और तपस्या अपेक्षित थी। दुष्टप्रकृति, अनियंत्रित, मनोविकारी, दूसरों की भर्त्सना करने वालों का गुरुकुल में प्रवेश निषिद्ध था। केवल कुशल, होकर कर्मठ, सच्चिरित्र, अच्छी स्मरण शक्तिवाला छात्र ही वहा प्रवेश पा सकता था[1]। यद्यपि वैदिक संस्कृति सभी मानवों को समानरूप से शिक्षा का अधिकार देती है[2] किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट करती है कि असूयक अनृजू और अयत को दी गई विद्या फलवती नहीं होती, अपितु शुचि, अप्रयन्त में धावी और ब्रह्मचर्य से विद्यार्थी को विद्या ही सफल होती है[3]। अतः जब विद्यार्थी गुरु के आश्रम में आता था, तब सबसे पहले उसका उपनयन संस्कार करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत और गायत्री मंत्र का उपदेश दिया जाता था तथा उसे शिक्षा के योग्य बनाने के लिए गुरु उसे तीन रात तक अपने उदर या गर्भ में रखता था अर्थात् अपने सम्पर्क से उसके त्रिविध अज्ञान (जन्म, परिवार और परिवेश) रूप दोषों को दूर कर उसे गुरुकुल में लेता था[4]। इसके लिए वेद का यह भी आदेश है कि गुरु अपने 'आचार' से विद्यार्थी को शिक्षित करे, तभी वह 'आचार्य' कहलायेगा[5]। अतः शिष्य को ब्रह्मचर्य का उपदेश देने के लिए

---

१. मनुस्मृति २/१०६
२. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। –यजु. २६/२
३. निरुक्त २/३/४
४. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। अथर्व० ११/५/३
५. आचारं ग्राहयाति, आचिनोति अर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा। -निरुक्त १/२/३

आचार्य को भी ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना होगा[1]। प्रजापति या राजा को भी ब्रह्मचारी होना चाहिए, ब्रह्मचर्य से युक्त राजा विशेष रूप से राष्ट्र की रक्षा करता है[2]। ब्रह्मचर्य पालन करने पर ही कन्या तरुण पति को प्राप्त करती है[3]। ब्रह्म अर्थात् नियम पर सारा विश्व चलता है अतः मानो सारा संसार ही संयम में बंधा हुआ ब्रह्मचारी हैं[4]। परमात्मा से उत्पन्न सब पदार्थ अपने में प्राण (शक्ति) धारण करते हैं। ब्रह्मचारी में स्थित ज्ञान उन प्राणशक्तियों की रक्षा करता है। ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर ही सारे विश्व का रक्षक है। यही मानो ब्रह्म की महिमा है। इसी का ब्रह्मचर्य है[5]।

वैदिक शिक्षण—पद्धति में अध्ययन का स्थान तो सर्वथा नगण्य था, श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन शिक्षा के सोपान माने गये थे[6]। ब्रह्मचारी गुरुकुल मे रहकर प्रतिपल गुरु के जीवन से साक्षात् जीवन कला की शिक्षा लेता था। वैदिक शिक्षा—प्रणाली मौखिक पम्परा पर आधृत थी जिसे न्यायवार्तिककार ने 'गुरुपारम्पर्य' या 'सम्प्रदाय' का नाम दिया है[7]। इसीलिए वेद को 'श्रुति' कहा जाता है क्योंकि ज्ञान पुस्तकों या पाण्डुलिपियों में निहित नहीं होता था जिसे पुस्तकालयों में संचित किया जा सके, अपितु मस्तिष्क में ही निहित होता था और स्वय आचार्य ही उस समय के जीवित एवं सचल पुस्तकालय होते थे[8]। अतः गुरु की सेवा से ही विद्या पाई जा सकती थी—'गुरु शुश्रूषया विद्या'। इसीलिए ब्रह्मचारी गुरुकुल के लिए

---

१. आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। —अथर्व० ११/५/१७
२. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। —वही
३. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। —वही, ११/५/१८
४. वही, ११/५/२०
५. वही, ११/५/२२
६. बृहदा. २/४/५
७. सम्प्रदायो नाम शिष्योपाध्यायसम्बन्धस्य अविच्छेदेन शास्त्रप्राप्तिः—न्या. वा. पृ. २४
८. Mookerjoe, R. K., Ancient Indian Education, P. xxxi, (prologue)

प्रतिदिन शिक्षाटन भी करता था। शिक्षार्थी में मानवीयता एवं त्याग की भावना जगाने के साथ-२ भिक्षाचरण अहंभाव को विचलित करने एवं अनियमित कामनाओं को नियंत्रित करके नैतिक अनुशसान सिखाने में सहायक होता था[1]। इस माध्यम से प्रतिदिन ब्रह्मचारी का गृहस्थों से सम्पर्क आश्रम एवं समाज, वैराग्य एव राजपूर्ण सम्बन्धों के बीच एक समन्वय भी स्थापित करता था तथा बाह्य प्रकृति एवं अन्त प्रकृति को जोड़ने के लिए सेतु का कार्य भी करता था। वेद में ब्रह्मचारी के लिए व्रतचारी[2] यह विशेषण भी मिलता है जिससे यही संकेतित होता है कि वैदिक शिक्षा पद्धति में शिक्षार्थी को कुछ व्रतों या नियमों का पालन करना अनिवार्य था।

तप— वैदिक शिक्षा–प्रणाली में ब्रह्मचर्य के साथ-२ तप को भी बड़ा महत्व दिया गया है। अपने आप को जो धर्म और राष्ट्र के लिए देता है, उसको निश्चय ही तप कहते है[3]। वैदिक मानव केवल प्रार्थना द्वारा हाथ पर हाथ रखकर सब कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता था। वह अपने पुरुषार्थ में विश्वास रखता था और स्वयं अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता था[4]। उसके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि संसार को यदि ऋत चलाता है तो मानव–जीवन को सत्य चलाता है। ऋत ही मानव–जीवन में सत्य कहलाता है, कष्ट सहकर भी मनुष्य को सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए क्योंकि ऋत और सत्य तप से ही उत्पन्न हुए थे[5]। ऋग्वेद के एक मंत्र में बताया गया है कि कैसे सात ऋषियों ने तप के द्वारा उच्चतम पद प्राप्त किया[6]। अन्यत्र भी अनेक प्रकार के तप का वर्णन किया गया है तथा कहा गया है कि तप के द्वारा मुनियों ने स्वर्ग पाया[7]

---

१. पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्यात्मेन्धत्ते स ऽ एनकाविशति। अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येव अहिर्भूत्वा भिक्षते य ऽ एवास्य मृत्यौ शतपथ. ११/३/३-५

२. ऋ० ३/८/४-५ १०/१०६/५ तथा यजु० १/५, १६/३०

३. ता० ब्रा० १/१/२

४. भीखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ३८-३६

५. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। –ऋ० १०/१६०/१

६. देवा एतास्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः। –ऋ० १०/१०६/४

७. त्वंतपः परितप्याजयः स्वः। –ऋ० १०/१६७/१

वस्तुतः शिक्षा ज्ञानप्राप्ति का साधन है और ज्ञानप्राप्ति के लिए एक ही मार्ग है एकाग्रता। इन्द्रियों तथा चित्त की एकाग्रता का नाम ही परम तप है[1]। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने चित्तवृत्तिनिरोध या तप को ही शिक्षा का लक्ष्य माना, यही योग है और योगसाधना वैदिक शिक्षा की प्रणाली है क्योंकि वैदिक संस्कृति यज्ञ और योग की ही संस्कृति है। अतः योगाधारित वैदिक शिक्षा में तप का प्रमुख स्थान रहा है। इसीलिए वैदिक सस्कृति के व्याख्याता मनु ने ज्ञान को ब्राह्मण का तप कहा है[2]। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो लोग तपस्या और श्रद्धा का आचरण करते हुए अरण्य में रहते हैं, वे[3]

वैदिक शिक्षा-पद्धति में तप श्रम का पर्याय है और गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी को तप या श्रम का ही अभ्यास करना होता था। वेद कहता है कि समिधा (त्याग, बलिदान) मेखला (संयम) और तप (श्रम) द्वारा ब्रह्मचारी मानो ससार को पूर्ण करता है[4]। सब देव, विद्वान्, पितर या पालक, वृद्धजन, गन्धर्व या पृथिवीपति आदि ब्रह्मचारी के सहायक होते हैं और ब्रह्मचारी तप द्वारा उनका सहायक होता है[5]। उष्णता धारण करता हुआ ब्रह्मचारी तप या परिश्रम के द्वारा ऊपर उठता है[6]। तप के द्वारा ही ज्ञान की भी रक्षा करता है तथा भूलोक और द्युलोक की भी[7] इस प्रकार नैतिक मूल्याधारित वैदिक शिक्षा-प्रणाली में तप या श्रम का महत्त्व सुव्यक्त है। वेद की तो स्पष्ट घोषणा है कि देवजन उसी की सहायता करते हैं जो परिश्रम करते-२ थक गया है[8]। अतः तप द्वारा निश्चय ही लोक में विजय पाते हैं[9]।

---

१. मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः। -महाभारत (शान्ति०) २५०/४
२. ब्रह्मणस्य तपो ज्ञानम्। -मनु० ११/२३६
३. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये··················मुण्डक० १/२/११
४. श्रमेण लोकांस्त वसा स्वंपर्त्ति अथर्व० ११/५/४
५. वही ११/५/२
६. वही ११/५/५
७. वही ११/५/८
८. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। -ऋ० ४/३३/११
९. ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया राज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा शतपथ १४/४/२/२५
मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीपनत्त प्रव्रजन्ति।

सर्वजनकल्याण अथवा मानवीयता की भावना— वैदिक शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मानवीय भावना रही है। वेद में व्यक्ति को समाज के योग्य बनाना ही शिक्षा का केन्द्र माना गया, अतः सर्वत्र कृण्वन्तो विश्वमार्यम्[1] तथा पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः[2] जैसे आदर्श सामने रखे गये। इनसे अधिक सर्व-भौम, सार्वकालिक और मानवतावादी शिक्षाप्रद सन्देश और कहीं मिलने दुर्लभ हैं। मनुष्यमात्र के प्रति सौहार्द और सद्भाव सिखाना[3] वैदिक शिक्षा-प्रणाली का प्रधान लक्ष्य रहा। इसीलिए समस्त विश्व के सभी प्राणियों के प्रति मित्रदृष्टि[4] का विस्तार और ब्रह्माण्ड के सभी लोकों में शान्ति की प्रार्थना[5] वैदिक ऋषियों की मूल कामना थी। वेद के सांमनस्य सूक्तों[6] में व्यक्त सामाजिक सहयोग की भावना विश्व-साहित्य में अद्वितीय ही है और यही समष्टि-भावना वैदिक शिक्षा-पद्धति का भी आधार रही है। गुरु शिष्य एक साथ आश्रम में रहकर श्रद्धा, सहिष्णुता, तप, तितिक्षा एवं त्याग के अतिरिक्त मानवीयता का अभ्यास करते थे। समाज के सभी वर्गों के विद्यार्थी एक साथ रहते व पढ़ते थे अतः सामाजिक वैषम्य या भेद भाव का प्रश्न ही नहीं था। आचार्य के साथ बैठकर जब राजा और निर्धन सभी के बालक 'सह नाववतु' और 'सह नौ भुनक्तु' की प्रार्थना करते थे तो उनमें विद्वेष और विघटन के भाव स्वतः ही विगलित हो जाते थे तथा वह शिक्षा केवल ज्ञानसंग्रह भर नहीं, अपितु विश्वमान-वतावादी क्रियावती, फलवती शिक्षा होती थी। एक सा खानपान, एक सा रहन-सहन और एक सी शिक्षा ही उस सच्चे समाजवाद को मूर्त्त करने में सहायक होते थे

१.

२. ऋ० ६/७५/१४ तथा यजु० २६/५१

३. तत्कृण्मो ब्रह्म तो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।—अथर्व ३/३०/४ तथा—यांश्च ,पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। -वही, १७/१/७

४. यजु. ३६/१८

५. वही ३६/१७

६. ऋ० १०/१९१ तथा अथर्व. ३/३०, ६/६४, ७४, ९४

जिसकी परिकल्पना वैदिक ऋषियों ने की थी[1]।

इस प्रकार उक्त संकेतों से सुव्यक्त है कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली केवल सैद्धांतिक नहीं, व्यावहारिक भी थी एवं उसका उद्देश्य मात्र अर्थोपार्जन सिखाना नहीं, अपितु धर्म, अर्थ और काम तीनों का समन्वित सेवन सिखाना था जिससे मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बन सके और अपने पुरुषार्थ की सिद्धि कर सके। आधुनिक शिक्षा-पद्धति केवल मनुष्य का मानसिक या बौद्धिक विकास करने पर ही बल देती है किन्तु उससे मानव-व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हो पाता। यही करण है कि आज शिक्षित जनों के एवं शिक्षा के आंकड़े बढ़ने पर भी हमारा नैतिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास सर्वथा अवरुद्ध होता जा रहा हैं। द्रुत औद्योगीकरण एवं भावी समाज के प्रति उदासीनता की भावना ने विश्व मे प्राकृतिक सम्पदा का क्षय एवं वातावरण प्रदूषण बढ़ाने में बहुत सहायता की है[2]। सापेक्ष रूप से सत्य होने पर भी आधुनिक विकास एव वर्तमान शिक्षा के प्रसार ने सभ्यता का विनाश ही किया है। एक निश्चित सीमा तक भौतिक उन्नति जीवन को आगे बढ़ाती है किन्तु उससे मानवीयता के उत्कर्ष की संभावना सुनिश्चित नहीं हो सकती[3]।

यही कारण है कि आज का मनुष्य खण्ड-खण्ड में जी रहा है, उसके समक्ष अखण्ड सत्य का बोध कराने वाला या अखण्ड व्यक्ति का निर्माण करने वाला कोई आदर्श नहीं। सच्ची शिक्षा का तात्पर्य मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता का प्रकाशन

---

1. शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। —ऋ० ७/५४/१
   भूतस्य जात: पतिरेक: आसीत्।—यजु० १३/४
   सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।—अथर्व १९/१५/६
2. C. V. Radhakrishnan, Science Education for the future, Vivekananda kendra Patrika, Kanyakumari, vol 15, No. 2, August 1956, P. 124
3. David E. williox, A Philosoper's look at the future, Journal of Thought, vol, 13, No. 2, April, 1978 pp, 111-116

है[1], अत: शिक्षा के द्वारा मानव के अन्दर छिपी हुई दानवीय प्रवृत्तियों को नष्ट कर उसे मानवीय आदर्शों के प्रति सजग बनाया जाता है जिससे कि वह दिव्यता की ओर उन्मुख हो सके[2]। वैदिक शिक्षा प्रणाली एक निश्चित लक्ष्यात्मिका शाश्वत पद्धति थी और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह मनुष्य को इस दिव्य व्यक्तित्व–निर्माण की साधना सिखाती है। और मनुष्य को मनुष्यत्व की शिक्षा देती है। इसीलिए उसमें केवल शरीर, मन या बुद्धि का विकास करने पर नहीं, अपितु समग्र सन्तुलन पर बल दिया गया है और 'आत्मवेदन' यानि अपने अन्तर की पहचान कराने के लिए सत्य–धर्म, व्यवहार-शुद्धि, मानवीय मूल्य और नैतिकता, प्राकृतिक, चेतना एवं परिवेश के प्रति संवेदना आदि उदात्त तत्वों को भी समाविष्ट किया गया है।

अत: निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि आज की उपयोगितावादी शिक्षा को जीवन के समग्र विकास की दृष्टि से रचनात्मक मोड़ देने के लिए आवश्यक है कि उसमें जीवन मूल्यों की शिक्षा, मानवीय सम्बन्धों की शिक्षा, परिवेश–परिपोषण की शिक्षा, भावात्मक सन्तुलन की शिक्षा तथा सर्वोपरि सिद्धान्त और व्यवहार के समन्वय की शिक्षा भी समाविष्ट की जाये। शिक्षा में परिवेश और नैतिक मूल्यों के प्रति जागृति का समावेश होने से अन्त: प्रकृति एवं बाह्यप्रकृति के सन्तुलन में सहायता मिलेगी तथा समाज में सच्चे, सर्वाङ्गीण रूप से विकसित, आध्यात्मिक आदर्शों से अनुप्राणित मनुष्यों के निर्माण की प्रक्रिया पुन: प्रारम्भ हो सकेगी जो वैदिक शिक्षा-प्रणाली का केन्द्र बिन्दु था। शिक्षा के साथ दीक्षा का संयोग होने पर ही वह सार्थक हो

---

1. Education is the manifestation of perfection already in man swami Vivekananda.
2. It is through education that the ,sub- human' and the ,in human' in man are slain to enable the ,human, in him to give rise to the 'super–humen:
   -Prof, K. Subramauyam, Indian Education, P—103

सकेगी, तभी मनुष्य आत्मशक्ति को पहचानने में सक्षम हो सकेंगे और वेद का यह उद्बोधन उन्हें प्रेरित कर सकेगा—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति संक्राम[1] ॥

अर्थात् हे मनुष्य ! तू वीर्यवान् है, तेजस्वी है, अपने में आनन्दमय है और ज्योतिवाला है, तू श्रेष्ठता को प्राप्त कर, आगे बढ़ !

---

१. अथर्व. २/११/५

शिक्षा में नैतिक मूल्य

डा० सत्यवीर विद्यालंकार, पी-एच० डी०

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जीवन का चहुंमुखी विकास करना है। दूसरे शब्दों में शिक्षा मानव के जीवन को संवारने एवं सुधारने का सर्वोत्तम साधन है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य के चिर-संचित संस्कारों का समुचित विकास होना है, जिसके कारण वह सभ्य, सुशिक्षित तथा विचारशील बनकर राष्ट्र का योग्य नागरिक कहलाने का अधिकारी बनता है। इस बात को स्वामी विवेकानन्द ने इन शब्दों में संजोने का प्रयास किया था-मनुष्य में जो सम्पूर्णता गुप्त रूप से विद्यमान है, उसे प्रत्यक्ष करना ही शिक्षा का कार्य है।" इसका भाव यह है कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य पूर्ण बनता है अन्यथा वह अधूरा रहता है। इसके बिना उसके विकास की बात तो दूर रही, उसे जीवनयापन के लिये आवश्यक नियम और व्यवहार का भी पता नहीं चलता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी गहन विचारधारा को प्रकट करते हुए लिखा है- "जिससे विद्या, सभ्यता धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि होवे और अविद्या आदि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।" शिक्षा ग्रहण करने से मनुष्य में अच्छे और बुरे के चिन्तन के साथ-२ धार्मिकता आ जाती है। तात्पर्य यह है कि गुण—दोष, सत्य, असत्य, हानि लाभ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य तथा पाप और पुण्य का विवेक उत्पन्न करने का सामर्थ्य पैदा करना भी शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो पक्ष होते हैं, इनके सम्यक् सन्तुलन से ही शिक्षा फलवती होती है।

वर्तमान काल में शिक्षित लोगों के आंकड़े तो बढ़ते जा रहे है, परन्तु मनुष्यों का पतन भी उसी मात्रा में बढ़ता जा रहा है तो फिर ऐसी शिक्षा का क्या लाभ हुआ ? यदि शिक्षित नर-नारी में भी दया, सहानुभूति, प्रेम, वात्सल्य, त्याग, सहनशीलता और उदारता नहीं, तो फिर ये गुण किसमें मिलेंगे ? जाति, वर्ग, रंग, क्षेत्र, धर्म, भाषा आदि का भयंकर बिष पठित लोगों में है, तो फिर अपठित लोगों के विषय में क्या कहा जाये ? भौतिक रूप में बहुत अधिक प्रगति करने के बाद भी मनुष्य अशान्ति, निराशा, कुण्ठा तथा आत्मघात का शिकार बन रहा है—ऐसा क्यों ?

सम्भवतः इन्हीं विचारों में खोये हुये एक वैज्ञानिक ने कहा था—"आज मानव आकाश में उड़ना सीख गया है। उसे समुद्र की सतह पर चलना भी आता है, वह पाताल की गहराइयों में भी जा पहुंचा है। मगर उसे जमीन पर चलना नहीं आता।" यह कथन वर्तमान काल की वास्तविकता को दर्शाता है। आज नैतिकताविहीन मनुष्य का जीवन निःसार बनता जा रहा है, जो दूसरों के लिये तो संकटों का कारण बन ही रहा है, जो अपने लिए भी आत्मघाती सिद्ध हो रहा है।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सभ्यता एवं शिष्टताविहीन प्रगति को फन्दे के समान मानते हुये कहा था— "इससे आत्मा की नैतिकता का हनन हो जाता है।" अब हम ऐसी स्थिति में पहुंच गये है जहां न केवल शिक्षा में नैतिकता की आवश्यकता अनुभव हो रही है, अपितु नैतिकता को पाठ्यक्रम में अनिवार्य स्थान दिया जाना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से परिणाम यह निकलता है कि लार्ड मैकाले द्वारा निर्मित वर्तमान शिक्षा प्रणाली को पूर्णतया परिवर्तित करना चाहिये। कई बार बुद्धि जीवी लोग प्रश्न करते हैं कि क्या विद्यालयों की वर्तमान तोतारटन्त को शिक्षा कहा जा सकता है? जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बना सकती बल्कि उल्टे उसका पतन करती है, क्या वही शिक्षा है? ऐसी शिक्षा जिसे वर्षों तक ग्रहण करने के बाद भी मनुष्य मानवीय गुणों से दूर रहता है, उसकी क्या आवश्यकता है? जब पढ़ा—लिखा व्यक्ति भी माता—पिता और गुरुओं को श्रद्धा तथा सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता जो केवल स्वार्थ का रिश्ता समझता है, अन्य कुछ नहीं. ऐसी शिक्षा से क्या लाभ?

यह कहना ठीक है कि मनुष्य जब तक वास्तव में मनुष्य नहीं बने तब तक देश का अथवा विश्व का निर्माण करना असम्भव है। मनुष्य के ठीक प्रकार से निर्माण के बिना विश्व में शान्ति की स्थापना की कामना करना भी व्यर्थ हैं। क्योंकि संसार में जो कुछ अशान्ति या छीना-झपटी मची है उसका कारण वस्तुतः मनुष्य स्वय है। इसका कारण यह है कि संसार का जितना लाभ या हानि मनुष्य कर सकता है, इतना दूसरा कोई प्राणी नहीं कर सकता।

यह बात ठीक है कि बाल्यावस्था में बच्चे पर पड़ा हुआ छोटा–सा संस्कार भी अमिट रहता है और वह यौवनावस्था में बहुत दृढ़ बन जाता है। यही कारण है कि बचपन को उत्तम बनाने के लिये १६ में ११ संस्कार बचपन मे करने का विधान किया गया है। हमारे ऋषियों ने मानव–जीवन के आधार 'शिशु–जीवन को सुन्दर एवं पवित्र बनाने की तरफ पूरा ध्यान दिया था। जब बचपन की प्रत्येक क्रिया पर विशेष ध्यान दिया जाता था तभी मनुष्य का ठीक निर्माण होता था। यह मानव निर्माण की प्रक्रिया आर्ष–पद्धति के अन्तर्गत आश्रम जीवन पद्धति में मिलती है। वेद का आदेश है "मनुर्भव", अर्थात् हे बालक, तू उत्तम विद्या को प्राप्त करके मनुष्य के लिये उपयोगी सब गुणों को धारण करके अच्छा मनुष्य बन। देश को सब प्रकार की उन्नति के लिए मनुष्य के निर्माण की सर्वप्रथम आवश्यकता है। स्पष्ट है कि गुरु न केवल बौद्धिक पुस्तकीय ज्ञान ही करवाना है, वरन् शिष्य का सर्वांगीण विकास करवाकर ज्ञान-विज्ञान के साथ-२ सच्चरित्र बनने की शिक्षा भी देता हैं। इस प्रकार योग्य, सुशिक्षित, चरित्रवान् नागरिकों का निर्माण होकर राष्ट्र का निर्माण होता हैं।

पूर्व काल में सादा तथा तपस्वी जीवन और उच्च विचार–यह विद्यार्थी के लिये अनिवार्य होता था जिसका आज सर्वथा अभाव है। सादे वस्त्र धारण करना, शुद्ध खान पान करना, किसी भी प्रकार का नशा सेवन न करना, रजोगुणी तथा तमोगुणी वस्तुओं का सेवन न करके केवल सात्विक पदार्थों का सेवन करना, भड़कीले तथा चमक–दमक वाले वस्त्र न पहनना, सर्दी–गर्मी को सहन करने का अभ्यास डालना, यम, नियम तथा सदाचार के नियमों का पालन करना ही तप होता है। इस तपस्या से दुर्व्यसन छूटकर छात्र का जीवन पवित्र बनता है। दूसरे तपस्वी व्यक्ति आत्मनिर्भर होता है। वह साहसी और परिश्रमी बनकर कठिन परिस्थितियों में भी नहीं घबराता और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उन्नति करता है। ऐसे छात्र ही आगे चलकर मानव जाति का कल्याण करते हैं तथा देश की प्रगति करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि हमे अपने पाठयक्रम मे नैतिक शिक्षा को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाना चाहिए। छात्रों की मान–सिकता में परिवर्तन करने तथा उन्हें सभ्य एवं शिष्ट नागरिक बनने के लिये ऐसा

करना जरूरी हो गया है। पाठयक्रम इस ढंग से निर्मित किया जाये कि जिसमें आदर्श भारतीय सभ्यता और संस्कृति की जानकारी के साथ हमारे गौरवपूर्ण इतिहास का भी समावेश हो। जिसमें सदाचार और जीवन-निर्माण की शिक्षा हो। जब अच्छे व्यक्तियों का निर्माण होगा तो अच्छा परिवार और उसके बाद समाज बनता चला जायेगा। जब पाठ्यक्रम में अच्छी बातें हैं ही नहीं तो फिर आशा भी क्या करें।? सद्भावना, सहानुभूति, सहिष्णुता, सदाचार, सद्वचन, अहिंसा, तपस्या, श्रद्धा, सम्मान, दुर्व्यसन त्याग आदि नैतिकता के मूल सिद्धान्त हैं जिनका बालकों के जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ता हैं। नैतिक शिक्षा के अभाव में छात्रों में ऐसी अनु-शासनहीनता बढ़ती जा रही है जिसके कारण सारी व्यवस्थायें भंग हो रही हैं। यदि नैतिकता को पाठयक्रम में सम्मिलित कर लिया जाये तो नेक और ईमानदार इन्सान बनेंगे, जिससे राष्ट्र की स्थिति बदल जायेगी और प्रगति का मार्ग खुल जायेगा। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं।

वैदिक शिक्षण प्रणाली-पर्यावरण एवं मूल्य

डा० प्रेमचन्द श्रीधर, दिल्ली

पर्यावरण एवं प्रदूषण की समस्या— इलाहाबाद से निकलने वाली पत्रिका 'नई आजादी' में श्री बलाश ने लिखा है—सबकी चिन्ता यह है कि हमारी हवा प्रदूषित होती जा रही है। पानी और मिट्टी जहरीली हो गई है। जंगल भारी मात्रा में कट गए हैं जिससे मौसम बदलते जा रहे हैं। पृथ्वी में वायु मण्डल का ताप बढ़ता जा रहा हैं और इस बढ़ोत्तरी की रोकथाम न की गई तो अगले २०-२२ वर्षों में तापमान ५ से ७ डिग्री सेल्सियस बढ़ जाएगा जिसके परिणाम स्वरूप उत्तर दक्षिण ध्रुव पर जमी हुई बर्फ इतनी पिघल जायेगी कि दुनियां के कई देश डूब जाएंगे। ये तो खतरे हैं ही पर सबसे बड़ा खतरा पैदा हो गया है पृथिवी की रक्षा करने वाली ओजोन परत में छेद हो जाने से। क्लोरो-फ्लोरो कार्बन गैसों तथा नाइट्स गैसों के कारण अन्तरिक्ष के ऊपर ओजोन की परत में काफी पहले छेद हो चुका था जिसके कारण दक्षिण अमेरिका के ध्रुव दक्षिणी क्षेत्रों में भेड़े और अन्धे हो रहे हैं हाल ही में ओजोन परत में छेद अमेरिका और कनाडा के ऊपर भी मिले इससे पश्चिमी दुनियां के औद्योगिक देशों में काफी खलबली मच गयी है।

आज तकनीकी भाषा में वैज्ञानिक एवं अर्थशास्त्री और सबसे अधिक आज का तथाकथित राजनीतिज्ञ जो मुख्य रूप से इस बढ़ते हुए प्रदूषण के लिए उत्तरदायी है, कुछ भी सिद्ध कर सकता है और अपने उत्तरदायित्व से हाथ झाड़कर स्वयं निर्लेप खड़ा हो सकता है परन्तु सत्य यह है कि इस संसार में अर्थ का अभाव भी बुरा है परन्तु बढ़ते हुए वैज्ञानिक व तकनीकी विकास के साथ-साथ अर्थ का प्रभाव उससे भी बुरा है। अधिक से अधिक धनी होने की अन्धी दौड़ में व्यक्ति, समाज राष्ट्र और विश्व के अत्यन्त विकसित और धनी देश कोई पीछे नहीं रहा और अधिक से अधिक लाभ कमाने की इच्छा से प्रकृति के ईश्वर प्रदत्त संसाधनों का तीव्रता से दोहन कर रहे है। पर्यावरण में प्रदूषण की समस्या इसी लाभ कमाने की और उप-भोगवाद की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। औद्योगिक क्रांति के बाद योरुप में विकसित इस माडल का जो एक मात्र अधिक से अधिक लाभ कमाना अपना लक्ष्य मानता है सारी चिर प्रतिष्ठित मान्यताओं और मानव मूल्यों को रौंदकर प्रकृति का बुरी

तरह से दोहन किया है और इसी के साथ २ मानव की सब तरह की शारीरिक, मानसिक और वैचारिक शक्तियों का भी शोषण किया है। पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या इसी का दुष्परिणाम है।

भारत जैसे देश जो अभी विकासोन्मुख स्थिति में हैं, जो निरन्तर आर्थिक शोषण के दबाव का विश्व स्तर पर सामना कर रहे हैं और नए तकनीक तथा औद्योगीकरण के द्वारा अपनी स्थिति को सुधारने में प्रयत्नशील है इस बढ़ती हुई पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या का अधिक शिकार हो रहे हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि विकास के पश्चिमी माडल को अपनाने के फलस्वरुप नए-नए उद्योगों को प्रारम्भ करने के फलस्वरुप कार्बन डाईआक्साइड, मीथेन क्लोरो-फ्लोरो कार्बन गैसें पृथ्वी के वायुमंडल में बढ़ गई हैं और इसी कारण सूर्य के तीव्रतम ताप को रोकने वाली ओजोन छतरी, जो प्रकृति का वरदान है, उसमें छेद हो गया है, परिणाम स्वरूप सूर्य की किरणें अधिक गर्मी करेंगी, ध्रूवों पर जमी हुई बर्फ के पिघलने के साथ-२ सार्वभौमिक तापन का प्रभाव(global warming) होना स्वाभाविक है। इसके परिणामस्वरूप जलवायु में तीव्रता से परिवर्तन होगा। बाढ़ और सूखे की सम्भावनाएं और बढ़ जाएंगी। ध्रूवों पर बर्फ के पिघलने से समुद्र तल का जल इनना अधिक बढ़ेगा कि देश जलमग्न हो जाएंगे।

भूमि की उर्वरा शक्ति अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने की लालसा के कारण तीव्रता से समाप्त हो रही है। नए–नए किस्म के बीजों का विकास किया गया है जिसे अधिक खाद, पानी और हवा की मात्रा चाहिए जिसे पूरा करने के लिए प्राकृतिक खाद को छोड़ औद्योगिक ढंग से प्राप्त खाद का प्रयोग हो रहा है, इससे जहां अन्न में विषैला प्रभाव बढ़ रहा है, वहां भूमि की उर्वरक शक्ति का भी ह्रास हो रहा है। विषैली गैसों का प्रयोग कीटनाशक औषधियों के निर्माण के लिए होता है जिनको कि आज का किसान अपनी फसलों पर छिड़कता है अथवा खाद के साथ मला देता है यह सब पर्यावरण को और अधिक प्रदूषित कर रहे हैं -

वेद में पर्यावरण की शान्ति की प्रार्थना — ऐसा नहीं है कि ऐसी समस्या

और उससे उत्पन्न होने वाले गम्भीर परिणामों की परिचर्चा वेद के मन्त्रों में नहीं है। वेद की ऋचाएं अनुपम हैं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को इन ऋचाओं में स्पर्श मिला है और उस स्पर्श में अन्तर्निहित गहन चिन्तन तथा समाधान भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

भौतिक वातावरण मानव के जीवन को अशान्त और अव्यवस्थित कर देगा आत्मा शान्ति के लिए छटपटा उठेगी इसलिए बार-बार वेद में शान्ति के लिए कामना और प्रार्थना की गई है।

द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः
आपः शान्तिः ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः
विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः
शान्तिः एव शान्तिः सा मा शान्तिः एधि ॥

— यजु० ३६.१७

मेरे लिए द्यू-लोक शान्ति प्रद हो, अन्तरिक्ष-लोक
शान्ति देने वाला हो, पृथिवी शान्ति प्रद हो,
जल शान्ति प्रदान करने वाले हों, औषधियां तथा
वनस्पतियां शान्ति दायक हों ब्रह्म शान्ति प्रद हों,
सब जगह शान्ति ही शान्ति हो।

और शान्ति के वातावरण से परिपूर्ण यह द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी इसके अतिरिक्त अग्नि, सूर्य, जल, विद्युत आदि सभी दैवी शक्तियां व अन्य सब देव मुझे मेधा-बुद्धि प्रदान कर रहे हैं, जिससे मेरा कल्याण हो रहा है। इस कल्याण से मुझ में बल आ गया हैं, और उसी बल ने मुझे जीवन की अपार आशा और शक्ति प्रदान की है। और मानव उसी आशा और बल से युक्त स्थिति में अपने को विजयी अनुभव करता है। अथर्ववेद में इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन है—

द्यौः च इदं पृथिवी च अन्तरिक्षं च मे व्यचः।

अग्निः सूर्यः आपः मेधां विश्वे देवाः च सं ददुः ।।

—अथर्ववेद– १२ ५३

और ऐसी पृथिवी पर जहां काला और लाल मिलकर दिन–रात बन जाते हैं, जो पृथिवी वर्षा से चारों तरफ से भरी हुई है, ऐसी जगह पर वास करने के लिए कल्याणकारी तथा प्यारे स्थान पर आश्रय पाने की प्रार्थना की गई है —

यस्यां कृष्णं अरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यां
अधि वर्षेण भूमिः पृथिवी वृता आवृता सा
नः दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ।।

—अथर्ववेद– १२.५२

यजुर्वेद के ३७ वें अध्याय में भी पवित्रता से परिपूर्ण वायु, जल, पृथिवी और अन्तरिक्ष की कामना है और प्रार्थना है कि प्रदूषण रहित हमारे लिये दिन और रात्रियां कल्याणकारी हों, इन्द्र और अग्नि हमारी रक्षा करें, इन्द्र और पोषण का देवता संग्राम में आवश्यकता पड़ने पर हमारा पोषण करें– संसार की सभी देवी शक्तियां हमारी रक्षा करें।

इसी प्रकार दिन और रात्रियों की कल्याणमय होने की प्रार्थना के साथ जल देवता से भी 'शिव' और 'ऊर्जा' की प्रार्थना है। वेद मे आया है हे जल देवता, आप शान्ति और सुख देने वाले 'मयोभुवः' हो– और हमें 'ऊर्जा' प्रदान करो ताकि हम जीवन रूपी रण–अर्थात् संग्राम के लिए देखें– चक्षासे' अर्थात् तैयार रहे।

अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रिः प्रतिधीयताम् ।
शं न इन्द्राग्नी भवताम् अवोभिः शं न
इन्द्रावरूण रातहव्या । शं नः इन्द्रापूषणा वाजसातौ
शमिन्द्रा सोमा सुविताय शं योः ।

— यजु० ३६.११

आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न उर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ।।

—यजु० ३३.१४

उस प्रभु को जो स्वयं भी जल के समान रस रूप हैं, वह कल्याणमय परमात्मा जो आनन्द-रूप है, उस आनन्द की बूंदों के लिए भक्त कामना करता हुआ प्रार्थना करता है जैसे माता अपने बच्चे को प्यार करती है, प्यार का आनन्द प्रदान करती है ठीक ऐसे अपने आनन्द रस की बूंदें हमें भी प्रदान कर।

यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः।
उशतीः इव मातरः॥
—यजु० ३६.१५

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि मानव का और प्रकृति का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रकृति में प्रदूषण निश्चित रूप से मानव के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। इसलिए शारीरिक, आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रकृति-माता की पवित्रता अपरिहार्य है। अपनी माता को अप्रसन्न रखने वाला और निरन्तर प्रदूषण फैलाने वाला प्राणी स्वयं कैसे सुखी, प्रसन्न और दीर्घायु वाला हो सकता है।

वैदिक शिक्षा प्रणाली का आधार प्रकृति-माता – वैदिक शिक्षा प्रणाली का आधार ही प्रकृति माता की गोदी को स्वीकार किया गया। जिस मेधा की पीछे के वेद मन्त्रों में कामना की गई और कहा गया कि वह शुद्ध जल, वायु अग्नि, सूर्य पृथिवी प्रदान करती है उसी मेधा की प्राप्ति के लिए वेद ने घोषणा की है कि वह केवल मात्र पर्वतों की तलहटी और नदियों के संगम पर ही तपश्चर्या करने वालों को प्राप्त होती है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही वैदिक शिक्षा प्रणाली का वास्तविक स्वरूप है, मोक्षार्थी हो अथवा शिक्षार्थी उसके लिए एकान्त और शान्त वातावरण जहां किसी भी प्रकार का प्रदूषण न हो अध्ययन, मनन और चिन्तन के लिए आवश्यक है।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥

अर्थात् – पर्वतों की गुफाओं में और नदियों के संगम पर ध्यान करने, मनन चिन्तन करने से ही (विप्रः अजायत) मेधावी व प्रकट रूप से ब्रह्मत्व जागृत होता है।

वैदिक शिक्षा प्रणाली में शुद्ध पवित्र वातातावरण जहां थोड़ा-सा भी प्रदूषण न हो, न केवल बुद्धि को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य माना गया है अपितु ऐसे वातावरण में जप–तप और ईश्वर के ध्यान-चिन्तन, मनन को महत्व दिया गया है। महाराज मनु के अनुसार (अरण्य गत्वा) जंगल में एकान्त देश में जाकर सावधान होकर, जल के समीप स्थित होके नित्य कर्म को करता हुआ (सावित्रीम् अपि अधीयीत) सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और तदनुसार अपने चाल–चलन को करे।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥

—मनु० २.७६

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय सम्मुल्लास में स्वामी जी ने इस पर विशेष बल दिया है। ब्रह्मत्व में ब्रह्म शब्द पर बल है। एक ब्रह्म तो अविनाशी, अजर, अमर, नित्य, अजन्मा परमात्मा है और दूसरा 'ब्रह्म' वेद है।

द्वे ब्रह्मणे वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च तत् ॥

—उपनिषद्

वेद के पठन–पठान से सत्ता का बोध, विचार की जागृति, तदनुरूप जीवन-यापन अर्थात् गमन फिर लाभ अर्थात् प्राप्ति। यह सब वेद शब्द की ही विस्तृत व्याख्या के अन्तर्गत आता है। ज्ञान, गमन और प्राप्ति करने वाला ही सच्चा आर्य है।

क्योंकि वैदिक शिक्षा प्रणाली में प्रकृति–माता की गोद का आधार माना है और उसका लक्ष्य है ब्रह्म की प्राप्ति इसलिए शिक्षा में ब्रह्म की प्राप्ति के विशिष्ठ साधन ब्रह्मचर्य पर भी बहुत ही बल दिया गया है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी।

—अथर्ववेद– ११.५.१६

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणश्वो घासं जिगीर्षति ॥
—अथर्ववेद ११.५.१८

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरामरत् ॥
—अथर्ववेद ११.५.१९

वेद शास्त्र का ज्ञाता आचार्य ब्रह्मचारी हो । उपनिषद् के रहस्य को जानने वाला आचार्य, अध्यापक ब्रह्मचारी के द्वारा इन्द्रिय निग्रह से ही, वेद विचारने वाले, जितेन्द्रिय पुरुष की कामना करता है ।

एक अन्य बात जोकि वैदिक शिक्षा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण है, वह हैं कन्याओं का वेद पढ़ने और वेद की विदुषी बनने का आविष्कार क्योंकि वेद की विदुषी कन्या अपने समान वेद के विद्वान् युवा पुरुष को जीवन के संगी के रूप में प्राप्त करने की अधिकारिणी है ।

ब्रह्मचर्य के तप के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की । जो मनुष्य इन्द्रिय निग्रह द्वारा ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता है, वही निश्चय पूर्वक दिव्य शक्ति के द्वारा तपस्या से इन्द्रियों के द्वारा तेज व सुख को धारण करता है । ऐसा ही दिव्य पुरुष मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है ।

इसलिए प्रकृति-माता की पावन गोद में रहता हुआ शिक्षार्थी प्रार्थना करता है—

शं नो वातः पवतात् शं नः तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदत् देवः पर्जन्यः अभि वर्षतु ॥
—यजु० ३६.१०

पवन, पर्वत, सूर्य हमारी रक्षा करें, और गड़गड़ाता, कड़कड़ाता बादल हमारे कल्याण के लिए बरसे ।

वैदिक शिक्षा प्रणाली एवं मूल्य— ऐसी वैदिक शिक्षा प्रणाली ही जिसका आधार है प्रदूषण रहित प्रकृति–माता, जिसका लक्ष्य श्रेष्ठतम मेधा से युक्त, ब्रह्मचर्य की दिव्य शक्ति से सम्पन्न 'ब्रह्म' अर्थात् वेद को जानने वाले शिक्षार्थी जो तपश्चर्या से पूत आचार्यों के द्वारा दीक्षित किए गए हों, जिनका जीवन के उच्चतम मूल्यों में विश्वास हो, जो पूर्णरूपेण आस्तिक और सदाचार के व्रती हों, ऐसे ब्रह्मचारियों को भावी जीवन के लिए तैयार करना। जिन जीवन मूल्यों का पालन और संरक्षण वह ब्रह्मचारी करेगा, उसकी चर्चा हम यहां कर रहे हैं।

अपने आचार्य कुल में पूर्ण शिक्षित होने के उपरान्त आचार्य ब्रह्मचारी को सदाचारी रहने का उपदेश देता है। वैदिक शिक्षा प्रणाली में मानव के चरित्र को अधिक मूल्यवान् माना गया है। आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।

—वसिष्ठ स्मृति ६.४

आचारः परमो धर्मः

—मनु० १.१०८

महाभारत में तो विद्वान् ही उसी को स्वीकार किया गया है जो क्रियावान् है।

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्र पाठकाः।

सर्वे व्यसनिनो ज्ञेया यः क्रियावान्स पण्डितः॥

—महाभारत– ३.३१३.

'आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत' कदाचिदपि चरित्रं न लङ्घयेत'

चाणक्य सूत्राणि ३१०, १६३.

वैदिक शिक्षा प्रणाली में नैतिक मूल्यों को कितना उच्च स्थान प्राप्त है। यह ऋग्वेद के मन्त्र से स्पष्ट है—

पावकाः न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥

—ऋग्वेद १.१.१०

वेद में सर्वांगीण विकास की प्रार्थना है कि सरस्वती शारीरिक, मानसिक और

भौतिक सभी तरह की पवित्रता को प्रदान करने वाली हो। इसलिए दीक्षान्त के समय आचार्य उपदेश देते हुए कहता है—

> स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां
> न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।
> यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो
> इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयो-
> पास्यानि नो इतराणि, इत्यादि

वैदिक शिक्षा प्रणाली प्रकृति माता का प्रदूषण रहित शुद्ध पवित्र वातावरण जिसका आधार है ब्रह्मचर्य जिसका नियम है, तपश्चर्या ही जहां जीवन है और ब्रह्म की प्राप्ति जिसका लक्ष्य है, यदि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस प्रणाली को शिक्षा का आधार प्रदान किया जाए तो अनेकानेक समस्याओं का समाधान स्वयं ही हो जाएगा, ऐसा हमारा निश्चित विश्वास है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में पर्यावरण

डा० सुधा जैन

संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक

यह संसार उस परमैश्वर्यवान् रचयिता की अनुपम संरचना है जो असंख्य प्रकार के रंग और चित्र अपने आप में समेटे हुए है। कहीं इसमें दिन का उज्ज्वल प्रकाश है तो कहीं रात्रि का घोर अन्धकार। कहीं आकाश की नीलिमा है तो कहीं पृथ्वी की हरीतिमा। कहीं पर्वतों और चट्टानों का अभेद्य मौन हैं तो कहीं झरनों और नदियों का मनभावन सगीत। कहीं पक्षियों का मधुर कलरज है तो कहीं मानवकृत मशीनों का असहनीय कोलाहल। हमारे पूर्व दार्शनिकों ने प्रकृति की इस विविधता को स्थावर और जंगम तथा जड़ और चेतन के रूप में बाट कर देखा और गहन अध्ययन के बाद पाया कि स्थावर हो या जंगम अथवा जड़ हो या यह चेतन सभी पदार्थ एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। चेतन प्राणी को अपने जीवन के लिए एक विशेष प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है और वह वातावरण इसे प्रकृति के जड़ तथा स्थावर पदार्थों से प्राप्त होता है। जीव और उसके वातावरण को ही आधुनिक भाषा में ecosystew या पर्यावरण कहा जाता है। Ecosystew प्रकृति की वह कार्यप्रणाली है जिसमें जड़ और चेतन सभी पदार्थ पारस्परिक सहयोग से स्वात्म-निर्भर रह सकते है।

'पर्यावरण' शब्द परि और आ उपसर्गपूर्वक √वृ (आवरेण) धातु में भावार्थक ल्युट् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है चारों ओर से आवृत्त करने या ढकने वाला। दूसरे शब्द में, मानव जाति और उसके आसपास के वातावरण का सुरक्षा कवच पर्यावरण है। जब पर्यावरण के नैसर्गिक रूप में कुछ इस प्रकार के परिवर्तन आने लगे जो प्राणिमात्र के लिए घातक हो तब उसे वातावरण का 'प्रदूषण' कहा जाता है। पर्यावरण विशेषज्ञों ने मुख्य रूप से चार प्रकार का प्रदूषण बताया है—जलप्रदूषण, वायुप्रदूषण और भूमिप्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण।

प्राचीन संस्कृति साहित्य में 'पर्यावरण' और 'प्रदूषण' ये दोनों ही शब्द नहीं मिलते हैं। कहा जा सकता है कि ये दोनों शब्द अपेक्षाकृत नवीन हैं। इन शब्दों का प्रयोग सम्भवतः इसीलिए नहीं किया गया है कि उस समय मनुष्य के संमुख स्वयं

अपनी और अपने वातावरण की सुरक्षा का प्रश्न इतने भयावह रूप में नहीं था जितना वह आज है। नागरिक सभ्यता और औद्योगिक उन्नति के नाम पर आज हम जो विघान कर रहे हैं उसके दर्शन प्राचीन संस्कृति साहित्य में नहीं है। सम्भवतः प्राचीन सभ्यता मुख्य रूप से ग्राम्य और आरण्यक सभ्यता थी जिसमें कुटीर उद्योगों का स्थान तो था किन्तु वैज्ञानिक संयन्त्रों से पनपने वाले उद्योग उस समय नहीं थे। किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के लोग पर्यावरण या प्रदूषण से सर्वथा अपरिचित थे। विपरीत इसके वो सभी प्रकार के प्रदूषणों से भली-भांति परिचित थे तथा यह जानते थे कि वातावरण की स्वच्छता है शुद्धि प्राणिमात्र के जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। वैदिक ऋषि तो इसीलिए सदैव प्रकृति के बीच ही रहते थे। वे प्राकृतिक तत्त्वों की महत्ता को भली भांति पहचानते थे। इसीलिए उनकी देवताओं के रूप में स्तुति करते थे। सूर्य, मरुत्, उषस्, नदी, पर्जन्य, इन्द्र, वरुण, वनस्पति और वाक् सभी की अर्चना करते समय यह प्रार्थना की जाती थी कि वे यश, बल, अन्न, रस और सन्तान देने वाले हों।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त से यह स्पष्ट रूप से लक्षित होता है कि उस समय पर्यावरण संरक्षण की कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि भूमि बहुत उपजाऊ थी। वर्ष में पांच खेतीयां होती थी। भूमि 'पर्जन्य पत्नी' थी अर्थात् उसकी उर्वरता मेघ के जल पर निर्भर थी और इसी कारण उसमें उगने वाली खेती शुद्ध और स्वच्छ थी[1]। पृथ्वी पर उगने वाले वृक्षों के कटने और नष्ट होने का उन्हें भय नही था क्योकि वृक्षों तथा वनस्पतियों को 'ध्रुआ' कहा जाता था[2]। अथर्ववेद के इसी पृथ्वी सूक्त में

---

१. यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्य इमा पञ्चकृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥
अथर्व० १२.१,२८.

२. यस्या वृक्षा वनस्पतयो ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथ्वी विश्वधायसं धृतामाच्छावदामसि॥
वही, १२.१.२७.

यह कामना की गई है कि नदियों और समुद्रों वाली यह भूमि जिस पर अन्नादि की खेती होती है तथा जहां सभी प्राणी श्वास ले रहे हैं, इसी प्रकार इन सबको धारण करती रहे[1], अर्थात् इनमें से किसी का नाश न हो।

वैदिक काल में प्रचलित यज्ञ-यागादि का भी मुख्य उद्देश्य पर्यावरण की सुरक्षा ही था। यज्ञ की अग्नि में जिन औषधियों की आहुति दी जाती थी वे धुएं के रूप में परिवर्तित होकर सूक्ष्म हो जाती थी तथा समस्त वातावरण में सरलतापूर्वक व्याप्त हो जाती थी। उस धुएं की सुगन्ध से वातावरण की दुर्गन्ध दूर हो जाती थी जिससे अनेक रोगों से मनुष्यों की रक्षा होती थी। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में यज्ञ का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है यद्यपि वातावरण को सुगन्धित अन्य उपायों से भी किया जा सकता है किन्तु पुरुष आदि की सुगन्ध इतनी सूक्ष्म नही होती कि वह चारों ओर फैल सके। केवल अग्नि में जलने के बाद ही वह सुगन्धित द्रव्य इतने सूक्ष्म हो पाते हैं कि वो कण-२ में व्याप्त हो सकें और दुर्गन्ध को दूर कर सकें।

जनसंख्या वृद्धि सभी प्रकार के प्रदूषण का मुख्य कारण है— यह ज्ञान वैदिक ऋषियों को था तभी तो उन्होंने कहा है कि मानवों की भीड़ से रहित पृथ्वी उपजाऊ और शक्तिशाली होती है तथा उसमें बहुत सी औषधियां उत्पन्न होती हैं। ऐसी पृथ्वी की शत्रुओं से रक्षा की जानी चाहिये[2]।

पशु पक्षी भी हमारे जीवन का अभिन्न अङ्ग हैं गो आदि पालतु पशु मनुष्य की

---

१. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टय संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥
वही, १२.१.३.

२. असंबाधं मध्यतो मानवानां उद्वतः प्रवतः समं बहुः।
नानावीर्यां औषधिर्या बिभर्ति पृथ्वी न प्रथता राध्यतां नः ॥
अथर्व० १२.१.२.

खान–पान और यज्ञादि की आवश्यकताओं को पूरा करते थे, इसीलिए गौ को 'अघ्न्या' अर्थात् हन्तुमयोग्या कहा गया है। पशुओं की रक्षा का उल्लेख ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है। पशून् पाहि' तथा पद नि पश्वो नि पाहि (ऋग्वेद १.६३.३) अर्थात् पशुओं की रक्षा करो और पशुओं के रहने योग्य भूमि अर्थात् वनों की रक्षा करो+इस प्रकार के वचन अनेकश: मिलते हैं।

हिंसक मनुष्य की विनाशकारी शक्तियों के नष्ट होने की प्रार्थना की जाती थी[1]। मनुष्यों को पशुपक्षियों का भक्षक न होकर उनका रक्षक होना चाहिये तथा शाकाहारी भोजन करना चाहिये–इस बात का स्पष्ट निर्देश ऋग्वेद (१.५१.८) के वाक्य 'शाकी भव' द्वारा प्राप्त होता है।

वृक्ष मधुर और सुस्वादु फल देने वाले होते हैं[2] तथा पक्षियों का निवास भी वृक्षों पर ही होता है[3] अत: उन्हें नहीं काटना चाहिये।

जल से ही जीवन है जल अमृत है तथा जल में ही औषधियां है। 'अप्वन्त रमृतमप्सुभेषजम्[4]' ऋषियों का यह उद्घोष जल की स्वच्छता के संरक्षण की ओर संकेत करता है।

व्याकरण महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भी पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति सचेत थे तभी उन्होंने "ग्राम्यशूकरो न हन्तव्य:" ग्राम्यकुक्कुटो न हन्तव्य: का आह्वान किया है। सम्भवत: वे यह कहना चाहते थे कि

---

१. अररूणो धूर्ति: प्रणङ् मर्त्यस्य।

ऋग्० १.१८.३.

२. मधुमालो वनस्पति:।

ऋग्० १.६०.७.

३. या का कम्बीर युप्रवहो वनस्पतिम्।

ऋग्० ६.४८.१७.

४. न विप्रपादोदक पङ्किलानि, न वेदशास्त्र ध्वनि गर्जितानि।

स्वाहा स्वधाकार विवर्जितानि श्मशानव तुल्यानि गृहानि तानि॥

चाणक्यनीति—१३.६.

शूकर और कुक्कुट दोनों ही जाति के जीव गांव की गन्दगी को खाकर समाप्त करने वाले होते हैं और ग्राम्य वातावरण को स्वच्छ बनाने में सहायता देते हैं अतः उनका वध नहीं किया जाना चाहिये।

आचार्य चाणक्य का स्पष्ट उद्घषो था कि जिन घरों में यज्ञादि नहीं होता है वे श्मशान तुल्य हैं[1]। उनके इस निर्णायक कथन का अन्तर्हित तात्पर्य कि यदि हमने अपने पर्यावरण को स्वच्छ सुन्दर और सुगन्धित बनाये रखने का प्रयत्न नहीं किया तो निश्चित रूप से कुछ असाध्य रोग हमें घेर लेगें और एक दिन हमारे घर ही श्मशान बन जायेगें।

रामायण और महाभारत कालीन संस्कृति ग्राम्य और आरण्यक संस्कृति नहीं रही थी। उस समय बड़े-२ राजभवनों और उच्च अट्टालिकाओं से युक्त बड़े–बड़े नगरों का प्रादुर्भाव हो चुका था किन्तु फिर भी वे नगर ग्रामों और अरण्यों से अधिक दूर नहीं होते थे तथा लोग अपने जीवन का पर्याप्त समय इन अरण्यों के खुले वातावरण में व्यतीत करते थे। साथ ही, नगरों को भी यथासम्भव ढंग से स्वच्छ और सुगन्धित रखा जाता था जिससे पर्यावरण संतुलन बना रहे।

महाकवि कालीदास से लेकर श्री हर्ष तक लगभग सभी कवियों को राज्याश्रय प्राप्त था। इसीलिए उनकी रचनाओं में नगरों और राजमहलों के चित्रण अवश्य–भावी रूप से प्राप्त होते हैं। किन्तु फिर भी कवि प्रकृति के स्वच्छ और मुक्त वातावरण से ही जुड़े रहते थे। उनके कथानक अनायास ही ऐसा मोड़ ग्रहण करते थे कि सहृदय को प्रकृति नटी मुक्त नृत्य का आनन्द अवश्य प्राप्त हो जाता था। राजाओं की आखेट लीला का वर्णन स्वसम्भवतः इसीलिए किया जाता था कि उसके माध्यम से स्निग्ध वनों का सजीव चित्रण प्रस्तुत करने का उन्हें अवसर मिल जाता था।

---

१. राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
युक्ता पुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥
रामायण, बालकाण्ड—५.८

अभिज्ञान शाकुन्तल का नायक यद्यपि मगध का राजा है किन्तु नाटक का अधिकांश भाग कण्व के आश्रम में बीतता है जहां शाकुन्तला का वृक्ष लताओं और पशुओं से प्रेम अनुपमेय है। बिना वृक्षों को पानी पिलाए वह स्वयं पानी नहीं पीती थी तथा हरिण–षवकों के मुख में कुशा के तिनकों से घाव हो जाने पर उन पर इगुदी का तेल लगाती थी[1] ।

मृगया के लिए प्रवृत्त महाराज दुष्यन्त जब आश्रम तक पहुंचते हैं तो यज्ञाग्नि के धुएं की सुगन्ध से दूर से ही पहचान लेते हैं कि अब वो किसी आश्रम के निकट हैं। तभी उन्हें तापसो का स्वर सुनाई देता है—

राजन् ! आश्रममृगोऽयं नहन्तव्य: नहन्तव्य:[2] । अर्थात् अरण्यवास और आश्रम–वासी और पशु–पक्षियों का वध नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि वे निर्दोष प्राणी हैं और वनसम्पदा के संरक्षक हैं और भूमि के प्रदूषण को रोकने वाले हैं। वनों और आश्रमों का वातावरण सुरक्षित रहने के कारण नगरों का वातावरण भी सुरक्षित रहता था।

महाकवि भवभूति ने तो उत्तररामचरित में वनदेवी को एक सजीव पात्र के रूप में उपस्थित किया है जो सीता की सखी है तथा सीतानिर्वासन के बाद राम से उसका कारण जानना चाहती है तथा उन्हें अनेक उपालम्भ देती है[3] ।

महाकवि शूद्रक का मृच्छकटिक यद्यपि नागरिक सभ्यता और संस्कृति को दर्शाने वाला ग्रन्थ है तथापि वहां भी प्रकृति की सुषमा उसी प्रकार बिखरी हुई है जैसी किसी प्रकृति प्रेमी कवि की रचनाओं में। अपार धन–वैभव की स्वामिनी

---

१. अभि० शा० अंक – ४

२. वही अङ्क – १

३. त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं, त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभि: प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ।।
उत्तर रामचरितम्, ३.२६.

वसन्तसेना की प्रत्येक वस्तु जहाँ सुवर्णमण्डित और रत्नजटित है वहीं उसके घर द्वार पानी से धोकर ताजे गोबर से लीपे जाते हैं और सुगन्धित पुष्पों से सुसज्जित किया जाता है[1] ।

महाकवि बाण तो सदैव वन प्रान्तर में ही विचरण करते रहते हैं । कादम्बरी के जाबाल्याश्रम और दण्डकारण्य का वर्णन इतना सजीव है कि पाठक स्वयं को उन्हीं स्थानों पर विचरण करता हुआ अनुभव करता है ।

इन प्राकृतिक चित्रणों का अर्थ यही है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य के कवि यह संदेश देना चाहते थे कि व्यक्ति को सदैव प्रकृति के अधिक से अधिक निकट होना चाहिये जिससे उसका शरीर स्वस्थ और मन प्रफुल्लित रहे तथा जिससे उसकी कार्यक्षमता बढ़ती रहे और वह दीर्घायु प्राप्त कर सके ।

आज के युग में भौतिक वातावरण के प्रदुषण का कारण है औद्योगिक विकास और विशेष रूप से रासायनिक तत्त्वों तथा रेडियोधर्मिता युक्त तत्वों का प्रयोग । बड़े-२ औद्योगिक संस्थानों की चिमनियों के विषैले धुए ने समस्त वायुमण्डल को विषाक्त कर रखा है तथा मशीनों की और सड़क पर चलते असंख्य वाहनों की गड़गड़ाहट ने जो वायुप्रदूषण और ध्वनि प्रदुषण फैला रखा है उससे समस्त मानव जाति और प्राकृतिक सम्पदा के नष्ट हो जाने का भय उत्पन्न हो गया है ।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में आज जैसे रासायनिक तत्त्वों के प्रयोग का तथा उद्योगो का उल्लेख यद्यपि नहीं मिलता है किन्तु फिर भी प्राचीन काल के लोग प्राकृतिक संसाधनों को उसी रूप मे सुरक्षित रखना चाहते थे जिस रूप में वे उन्हें प्राप्त थे ।

---

१. अहो सलिल सिक्तमार्जित कृत हरितोपलेपनस्य विविध सुगन्धिकुसुमोपहार चित्रलिखित भूमिभागस्य..तोरणधरण स्तम्भ वेदिकानिक्षिप्त समुल्लसद्धरित चूतपल्लव ललाम स्फटिक मङ्गल कलशा-भिरामोभयपार्श्वस्य ....वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सेश्रीकता ।

मृच्छकटिम्— चतुर्थ अङ्क ।

वे यह जानते थे कि वृक्षों का सघन होना प्राणिमात्र के जीवन के लिए आवश्यक हैं क्योंकि वृक्ष दूषित वायु स्वयं ग्रहण करके हमें स्वच्छ वायु प्रदान करते हैं। सभी प्राणियों की जीवन रक्षा का उद्देश्य केवल यही था कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी रूप मे प्राणिमात्र के जीवन में सहायक होता है तथा प्रकृति ने स्वयं ऐसा चक्र निर्मित किया हुआ है कि किसी एक को हानि पहुंचाने वाले जन्तु का नाश दूसरा जन्तु ही कर देता है—यथा कृषि के घोर शत्रू चूहे को सर्प खा जाता है और सर्प को मोर। अतः हमें किसी एक को नष्ट करके प्रकृति चक्र को विकृत करने का अधिकार नहीं है।

उपर्युक्त भौतिक प्रदूषण के साथ-२ एक अन्य प्रदूषण जो बढ़ रहा है वह है 'वैचारिक प्रदूषण'। — आज प्रत्येक व्यक्ति आत्महित और परअहित की कामना करता है सांसारिक अभ्युदय के पीछे भागते-२ वह अपने परं निश्रेयस को भूल चुका है और इसीलिए किसी भी जीव को कष्ट पहुंचाते हुए उसे कोई कष्ट अनुभव नहीं होता। मेरे विचार में हमारे नैतिक जीवन की अवनति और हमारा वैचारिक प्रदूषण ही बाह्य सभी प्रकार के प्रदूषणों का मुख्य कारण है। यदि हम नैतिक बल पुनः प्राप्त करलें तो बाह्य वातावरण के कलुषित रूप को भी काफी सीमा तक सुधार सकते हैं।

हमारे प्राचीन साहित्यमर्मज्ञ मनीषी व्यक्ति के जीवन के इस पहलू को भी भली भांति जानते थे इसीलिए उन्होंने कहा था कि—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

अभ्युदय की कामना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है किन्तु उसका मार्ग दूसरे के पतन से गुजरने वाला नहीं होना चाहिए। आत्मिक उन्नति और नैतिक सम्पन्नता से व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का अनुभव करता है और वही निःश्रेयस् का सरल मार्ग है। सभी प्राणियों का उपकार करने से अच्छा कर्म अन्य नहीं है। अतः अथर्ववेद के शब्दों में हम सबको सबके लिए कल्याणकारी होना चाहिए[1]—

शिवाभव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवान इहैधि॥

---

१. अथर्ववेद ३.२८.३.

शिक्षा में नैतिक मूल्यों की अवधारणा

(योग के संदर्भ में)

—डा० ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष योग विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

भारतीय शास्त्रों मे शिक्षा शब्द को 'शिक्ष विद्योपादाने' के अनुसार विद्याग्रहण अर्थ मे लिया गया है। विद्याग्रहण का उद्देश्य निज धर्म का पालन करते हुए अर्थोपार्जन करना—जिससे सम्पूर्ण कामनाओं की तृप्ति की जा सके तथा इससे भी आगे बढ़कर अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करना है। इस कारण शिक्षा का जीवन मे अत्यन्त उपयोगी स्थान है।

आज भारतीय शिक्षा पद्धति केवल अर्थोपार्जन के साधन के रूप में ही प्रयुक्त हो रही है। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों मे—

नौकरी ही के लिए विद्या पढ़ी जाती यहा'। और भी अधिक, छल-छद्मपूर्ण क्रिया मे निज स्थानों की पूर्ति ही इसका उद्देश्य बनकर रह गया है। नित्य प्रति ऐसी युक्तियाँ सोची जाती है जिससे अधिकाधिक धनोपार्जन, अधिकाधिक विलास-सामग्री और अधिकाधिक मान-सम्मान प्राप्त हो सके। चाहे अन्य नागरिकों को, समाज को, राष्ट्र को कितनी भी हानि हो, उनका उद्देश्य अपने तक ही सीमित होना है। शिक्षालयों में बच्चों को केवल अपने ही उत्थान (अथवा पतन) की शिक्षा दी जाती है। इसी कारण समाज मे बुराइयों का ही साम्राज्य स्थिर होता प्रतीत होता है। यहा विद्या प्राप्त करके विवाद की स्थिति उत्पन्न करना, धन प्राप्त करके अभिमान करना और शक्ति प्राप्त करके दूसरों को कष्ट देना-एक साधारण आचार गिना जाता है। जबकि प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षा ज्ञान के लिए होती थी। इसी कारण दानों मे सर्वश्रेष्ठ द्रव्य का दान नहीं, शिक्षा-दान कहा गया है। शिक्षा के द्वारा परम-तत्व का ज्ञान प्राप्त करना और मुक्त हो जाना—यही शिक्षा का उद्देश्य रहा है। इसी प्रकार धन की विशिष्ट गति दान है, भोग और नाश नहीं। यदि प्रभु किसी को धनवान बनाए तो उसे चाहिए कि उस धन से वह लोक-कल्याण के कार्यों का सम्पादन करे। इसी प्रकार सात्त्विक शक्ति रक्षार्थ होनी है, पीडनार्थ नही। शक्ति शुभ-संकल्प से सात्त्विक और अशुभ संकल्प से तामसिक कही जाती है। सज्जनो को चाहिए कि अपनी शक्ति का व्यय लोक कल्याणार्थ और जन—रक्षार्थ करें। यही हमारे शास्त्रज्ञों का मत है—

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्ति परेषां परिपीडनाय।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

योग शास्त्र हमारी नैतिकता के उच्च मानदण्डों की स्थापना करता है। इसमें यम–नियमों को आचार–संहिता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यम—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सर्वप्रथम अन्य प्राणियों के साथ व्यवहार ही उसका आंकलन प्रस्तुत करता है। यम वे सामाजिक नियम हैं जिनके पालन से समाज के प्रति उसके आचरण में दिव्यता आती हैं। योग शास्त्र में इनकी संख्या पांच बताई है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[1]।

१. अहिंसा—शरीर, मन और वाणी से काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, भय आदि के कारण किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक कष्ट देना, हानि पहुंचाना या कष्ट या हानि में सहायता करना, अनुमति देना या किसी भी प्रकार से उसमें कारण बनना हिंसा कहलाती है। हिंसा के मृदु, मध्य, अधिमात्रादि भेद से ८१ प्रकार कहे गए हैं। उन ८१ प्रकार की हिंसाओं से स्वयं को बचाना अहिंसा है। मनुष्य जब हिंसा सेबचता है, तो वह सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणीमात्र में अपने ही स्वरूप को देखता है। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाना या घृणा करना सम्भव ही नहीं[2]। जिस प्रकार अविद्या क्लेशों का मूल है, उसी प्रकार अहिंसा अन्य यमों का मूल है। अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर अहिंसा पालक के सान्निध्य में आने वाला प्रत्येक प्राणी वैर–द्वेष भाव को छोड़ देता है[3]।

२. सत्य—सत्य के वर्णन से भारतीय साहित्य भरा पडा है। इसके विषय में वर्णन करना अत्यन्त दुष्कर है। सत्य यथार्थ ज्ञान है। यथार्थ को मन, वचन और कर्म मे अपनाना ही सत्य पालन है। अहिंसा के पालन के लिए सत्य आवश्यक है। सत्यपालक की कोई भी क्रिया निष्फल नही होती[4]।

---

१. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योग सूत्र– २/३०

२. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। ईशो०-६,७

३. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः। योगसूत्र–२/३५

४. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। वही–२/३६

३. अस्तेय –अन्यायपूर्वक किसी के धन, द्रव्य, अधिकार को छीनना स्तेय कहलाता है। इसके विपरीत अस्तेय है। अस्तेय व्रत का पालन करने वाले व्यक्ति को सब रत्नों की प्राप्ति स्वत: ही जाती है[1]।

४. ब्रह्मचर्य—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र–ये शरीर की सात धातुएं कही गई हैं[2]। इनमें अन्तिम शुक्र की रक्षा करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। उपस्थेन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य कहलाता है[3]। वीर्यरक्षा ही जीवन और वीर्यनाश ही मृत्यु है[4]। अतः प्रयत्नपूर्वक वीर्य की रक्षा करनी चाहिए। महर्षि दयानन्द, वीर हनुमान, भीष्म पितामह ब्रह्मचर्य के बल से तेजस्वी थे। ब्रह्मचर्य पालन से ही असीम शक्ति प्राप्त होती है[5]। ब्रह्मचर्य के तप से देवों ने मृत्यु को जीत लिया[6]। ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त शक्ति से ही समाज और राष्ट्र का कल्याण सम्भव है।

५. अपरिग्रह—अपनी आवश्यकताओं से अधिक भोग–सामग्री का संकलन परिग्रह कहलाता है। इसके विपरीत अपरिग्रह है। यदि भोगसाधनों का संकलन नहीं होगा तो सभी को आवश्यक वस्तुएं यथेच्छ मिल जाएंगी जिससे समाज में संतुलन बना रहेगा। परिग्रह से व्यक्ति का चित्त कालुष्यादि से पूर्ण होता है। वह अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है[7]। भविष्य में अपने जीवन के प्रति सजग रहता है।

नियम—वे व्यक्तिगत नियम जिनके द्वारा व्यक्ति अपने शरीर, इन्द्रियों व अन्तः करण को निर्मल करके वश में कर लेता है, नियम कहलाते हैं। इसमें उसका जीवन सात्त्विक, पवित्र और दिव्य बन जाता है। ये भी पांच कहे गए हैं शौच, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान[8]।

१. शौच—आन्तरिक और बाह्य सफाई शौच के अन्तर्गत आती है। मन व इन्द्रियों की शुद्धि आन्तरिक तथा शरीर की शुद्धि बाह्य शुद्धि है। इससे व्यक्ति अपने अंगों

---

१. अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। वही–२/३७

२. रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥ सुश्रुत

३. उपस्थेन्द्रियस्य संयमः ब्रह्मचर्यम्-व्यास

४. मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणम्–शिव संहिता

५. ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगसूत्र–२/३८

६. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। अथर्व०–३/५/१६

७. अपरिग्रह स्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः। योग सूत्र–२/३६

८. शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। वही–२/३१

से निकलते मल को देखकर अपने शरीर के प्रति मोहासक्त नहीं होता और दूसरे मल-पूरित शरीरों में आकृष्ट नहीं होता[1]। इस प्रकार वह सभी दुष्कर्मों से बच जाता है।

२. सन्तोष—सन्तोष तो सभी सुखों का मूल है। सन्तोषी व्यक्ति तो अभाव में भी असीम आनन्द की उपलब्धि का अनुभव कर लेता है[2]।

३. तपः—तप द्वन्द्वों का सहन करना है[3]। तप से हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुख आदि में भी व्यक्ति साम्यावस्था में रहता है। तप के द्वारा अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियां शुद्ध होती हैं। जिससे वह सम्पूर्ण दुर्गुणों से बच जाता है।

४. स्वाध्याय—मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है। स्वाध्याय शील व्यक्ति इष्ट देवता का साक्षात्कार कर लेता हैं। ऐसी प्रकाशशील स्थिति प्राप्त व्यक्ति सदाचार की मूर्ति होता है।

५. ईश्वर- प्रणिधान—ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। ईश्वर के प्रति समर्पित व्यक्ति तो काम क्रोध आदि अमर्षों से सर्वथा शून्य होता है। वह समाधि लाभ कर ईश्वर साक्षात्कार कर लेता है। वह परम पुरुषार्थ मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त यमों और नियमों का एक साथ पालन करने पर व्यक्ति समस्त दुर्गुणों से छूटकर सद्गुणों का आगार हो जाता है। उससे ही मानवता का कल्याण सम्भव है।

योग की इस आचार संहिता के पालन से मनुष्य का क्षेत्र समस्त सृष्टि हो जाता है। वह अपना विस्तार कर लेता है तथा सभी प्राणियों में अपने ही स्वरूप की कल्पना करके सबको सुख पहुंचाने का प्रयास करता है। ऐसे समाज में ही वेद का यह उद्घोष चरितार्थ हो सकता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुख भाग्भवेत्॥

शिक्षा में इन मूल्यों का समावेश ही समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

ओ३म् शांतिः ! शांतिः ! शांतिः !

---

१. शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः-योग सूत्र-२/४०
२. सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः-वही-२/४१
३. तपो द्वन्द्वसहनम्—व्यास

शिक्षाक्षेत्रे महर्षि दयानन्दस्य मौलिकं चिन्तनम्

—डॉ० रघुवीरः वेदालंकारः, रीडर
रामजस महाविद्यालयः, दिल्ली

सत्यार्थप्रकाशस्य द्वितीये तृतीये च समुल्लासे महर्षिणा विस्तरेण शिक्षासम्बन्धी विचारः कृतः। स्थापितास्तत्र स्वामिवर्येण केचन शिक्षासिद्धान्ता। महर्षिदयानन्दः न केवलं योगी, वेदभाष्यकारः, धर्मप्रचारकः, समाजसुधारकः, वैदिक धर्मोद्धारकः, अपितु महान् शिक्षाशास्त्री अप्यासीदिति तत्सिद्धान्तावलोकनेन स्पष्टं प्रतिभाति। द्वितीये समुल्लासे 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः' इत्युक्त्वा स्वामिवर्यः विस्तरेण शिक्षासिद्धान्तान् वर्णितवान्। अत्र च वर्तते दयानन्दस्य दूरदृष्टिः? दयानन्दमतेन शिक्षायाः प्रारम्भः न केवलं समुत्पन्ने वा भवत्यपितु जन्मनः पूर्वमपि पितृभ्यामेति शुद्धं वातावरणं उत्पाद्य येन बालः सुसंस्कृत एव जायेत। यथाह स्वामी 'माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व–मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़कर जो शान्ति, आरोग्य बल बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे इदं जन्मनः पूर्ववर्ति वातावरणम्। इदञ्चात्यावश्यकं वर्तत उत्तमसन्तान–निर्माणाय सुशिक्षाप्रदानाय च। न च केनापि शिक्षाशास्त्रिणा ऽस्योल्लेखः कृतः। जन्मनः पश्चात्तु कीदृशी शिक्षा केन प्रकारेण प्रदेयेति मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद इति वचनं समुद्धृत्यास्य व्याख्यायामाह स्वामी 'प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्। अत्र महर्षिणा विशेषणद्वयं प्रयुक्तम्–धार्मिकी विदुषी च। दयानन्दात् पूर्वं न केनापि मातृमान् पदस्यायमर्थं कृतः। सैव माता मातृपदवाच्या या विद्यया समलङ्कृता धर्मपरायणा च। सौभाग्यं स्यात्तद्राष्ट्रस्य यदा सर्वेबालका एतादृशी गुणद्वयोपेता मातरं लभेरन्। हन्त! अशिक्षाप्रधाने खल्वस्मिन् भारते प्रायेणाशिक्षिता अविद्याग्रस्ता मातर एव जनयन्त्यपत्यानि। अत एवेयमधोगतिः।

प्रशस्ता धार्मिकी माता किं कुर्यादित्याह स्वामी वर्यः 'बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे जिससे सन्तान सभ्य हो। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्सग में रुचि हो वैसा प्रयत्न करते रहें। सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे बालकेन केन सह कथं

वर्त्तितव्यमिति व्यावहारिकी शिक्षाऽपि मात्रा प्रदेयेति निर्दिष्टं स्वामिवर्येण । यथा—जो जो विद्या धर्मविरुद्ध भ्रान्ति जाल में गिराने वाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश करे जिससे भूतप्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो' । इयं खलु सर्वा शिक्षा बाल्यकाल एव मात्रा प्रदेया । अनया शिक्षितः सुसंस्कृतश्च बालकः न कदापि स्वीय परेषां च जीवनं दूषयिष्यति । शिक्षणालये प्रापणीयपुस्तक ज्ञानापेक्षया ऽतीवानिवार्येयं मातृशिक्षा बालकेभ्यः अस्या अभावे तु साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसाः स्युः केवलम् । दृश्यन्ते चाद्यत्वे उच्चशिक्षा सम्पन्ना अपि धार्मिक शिक्षा विहीनाः पुच्छविषाणहीनाः मानवपशवः । अतः धार्मिकी शिक्षा अवश्यं प्रदेया? । उक्तञ्च महर्षिणा—जैसी अन्य शिक्षा की वैसी चोरी—जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा करना ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि के छोडने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करे इयं सर्वा शिक्षा पितृभ्यां विशेषतस्तु मात्रा विद्यालय प्रेषणात् पूर्वं गृह एव दातव्या । अयं खलु परमो धर्मः पितृणाम् । उक्तञ्च महर्षिदयानन्देन 'यही माता पिता का कर्त्तव्यकर्म, परम धर्म और कीर्ति का काम है जो अपने सन्तानों को तन मन धन से विद्या, धर्म सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना' । इदममत्रावधेयम् यन्महर्षिणा शिक्षा, विद्या चेति पदद्वयं प्रयुक्तम् । इयं शिक्षा पितृभ्यां गृह एव दीयते, विद्या तु विद्यालये तत्पश्चात् प्रदास्यते । गृहे पुस्तकीयज्ञानातिरिक्त धर्माधर्माचरणविषयकं यत् किमपि पितरौ बालकं शिक्षयतः सा शिक्षा विद्यालयं गत्वा यत् किमपि पुस्तकीयं ज्ञानमर्ज्यते सा विद्यापदवाच्येति भेदः । मुण्डकोपनिषद्यप्युक्तम् द्वेविद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च । सर्वं वाङ्मयमपरा विद्येत्यनेन ज्ञायते ।

अत एव द्वितीय समुल्लासस्य प्रारम्भे महर्षिणा 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः' इति लिखितं, तृतीय समुल्लासस्य प्रारम्भे तु 'अथ अध्ययनाध्यापनविधिं प्रवक्ष्यामः' इति लिखितम् । महर्षिदयानन्दप्रतिपादितशिक्षासिद्धान्ता एवं वर्त्तन्ते । —

१. बालनां बालिकानाञ्च विद्यालयाः पृथक् पृथक् स्युः ।

२. सर्वे विद्यालयाः ग्रामतोनगरतो वा दूरे स्युः । इदं खल्वत्यावश्यकम् । ग्राम्यं नागरिकञ्च वातावरणमवश्यमेव छात्रान् दूषयिष्यतीत्यत्र नास्ति शकाकणिकाऽपि । अद्यत्वे प्राचीनपरम्राया अन्धानुकरणे महाविद्यालयेषु विश्वविद्यायेषु च छात्रावासास्तु भवन्ति किन्तु नागराणां नागरिकाणाञ्च दूषितं वातावरणं, दूषिता विचाराः

दूषितानि कर्माणि तत्रापि सरीसृपन्ते वियति कृष्णमेघवत् । अत एव तेषु छात्रावासेषु दण्डादण्डि मुष्टामुष्टि, अनैतिकञ्च वातावरणमवलोक्यते । भ्रष्टाचारस्थलानि तानि जायन्त इति को नाम न वेत्ति ?

३. विद्याऽध्ययनकाले छात्राः सर्वथा वीतचिन्ता, गृहसम्बन्धात् विमुखाः स्युरित्यपरः सिद्धान्तः उक्तञ्च महर्षिणा उनके माता पिता अपने सन्तानों से या सन्तान अपने माता पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक दूसरे से कर सकें जिससे संसारी चिन्ता से रहित केवल विद्या पढ़ाने की चिन्ता करें।

४. छात्रास्तपस्विनो योगाभ्यासिनः पवित्रमनाः पवित्रसंकल्पा उत्तमगुणकर्मस्वभा-ववन्तश्च स्युः । एतदर्थं महर्षिणा छात्रेभ्यः सन्ध्योपासनस्य प्रणवजपस्य च विधानं कृतम् । तेषामेव शब्देषु 'सबको तपस्वी होना चाहिए । न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करें । जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करें । मन से ओ३म् का जप करता जाए । इस प्रकार करने से मन की पवित्रता और स्थिरता होती है । बलपुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म रूप हो जाती है जिससे सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है ।

अनेन ज्ञायते यद् अध्ययनाय मानसिकी पवित्रता स्थिरता चातीवआवश्यकी सा च प्रणवजपेन, तपसा, सन्ध्योपासनादि कर्मणा च समधिगम्यते । दुर्लभेयं स्थितिरद्यत्वे विश्वविद्यालेषु छावावासेषु च । उपनिषत्काले तु छात्राणां कृते तपस्या ऽपरिहार्या ऽऽसीत् । इदमेव च दयानन्दाभिमतम्

५. धनाधारेण छात्राणां आसन-वस्त्र-खानपानादिषु भेदो न स्यादित्यपरः सिद्धान्तः । महत् खल्वन्तरमद्यत्वे दृश्यते धनीनिर्धनछात्रेषु । महर्षि स्तु प्राह 'सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिये जाएं, चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हों चाहे दरिद्र के सन्तान हों ।

६. शिक्षाया अनिवार्यत्वम्—दयानन्दीय शिक्षापद्धतेः पञ्चमोऽयं सिद्धान्तः यत् शिक्षा सर्वेभ्यो ऽनिवार्या स्यात् । इदं ननु राष्ट्रियं दायित्वं यद्राष्ट्रे न कोऽपि शिक्षाविहीनः

स्यात् । सर्वेऽनिवार्यरूपेण स्वापत्यानि विद्यालयेषु प्रेषयेयुरिति राजाज्ञा स्यात् । महर्षिशब्देषु 'राजाकी आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लडका या लडकी किसी के घर न रहने पावें किन्तु आचार्यकुल में रहें । इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लडके या लडकियों को घर में न रख सकें । पाठशाला में अवश्य भेज दें । जो न भेजें वह दण्डनीय हो ।

दयानन्दात् पूर्वं न केनापि सुधारकेन, शिक्षा शास्त्रिणा धर्माचार्येण, राष्ट्राध्यक्षेण वा एतादृशी घोषणा कृता । महान् खल्वयं नियमोऽज्ञानपरिपन्थी राष्ट्रोन्नतिमूलञ्च । अज्ञानं खलु प्रबलतम: शत्रु: समाजस्य राष्ट्रस्यच । अज्ञाने सति न समाजोन्नति:, न राष्ट्रोन्नति: न च धर्माधर्मज्ञानम् । अत: समूलोच्छेदनमज्ञानस्य चिकीर्षति महर्षि: अत: खलु विचारणीयं यत् कथं राजाज्ञया सर्वे बालका: शिक्षां लभेयु: । भारतवर्षोऽयं नास्ति धनसम्पन्न: । अस्त्यत्र गृहस्थानां गृहेषु बालकानां प्राचुर्यं न तु धनप्राचुर्यम् । निर्धना अपि बहुपुत्रिणो विलोक्यन्ते अत्र । अनेके निर्धना गृहस्था नित्यप्रति स्वबालकानामुदरपूर्ति कर्त्तुमप्यक्षमा: । बालकानां भोजन-वस्त्र-निवास प्रबन्धासमर्था निर्धना: पितर: कथमावश्यकीं शिक्षां प्रदास्यन्तीति चिन्तनीयम् । दयानन्दकाले अप्येषा स्थितिरासीत् । कथं पुनस्तेन लिखितं यद् य: स्वापत्यानि न पाठयेत् स दण्डभाक् स्यात् । अनेन ज्ञायते यत्महर्षिमतेन शिक्षा नि:शुल्का, धनप्रभावरहिता च स्यात् ।

अद्यत्वे धनाधारेणैव शिक्षायां सर्वत्र वैषम्यमवलोक्यते । धनिकाश्छात्रा धनप्रभावेण धनप्रधानेषु विद्यालयेषु सर्वविद्यामुच्चशिक्षां प्राप्नुवन्ति । अगम्या सा निर्धनेभ्य: । तत्र धनप्रमुखता न तु मेधायास्तपस्याया वा । पब्लिक स्कूल इति रुपेण शिक्षाक्षेत्रे यदिदं भ्रष्टतन्त्रं जरीजृम्भते अनेन विद्याक्षेत्रेऽसमानता समुत्पन्ना । अयं खलु चिन्ताविषय: शिक्षा सर्वसुलभा, धन प्रभावरहिता च स्याद्येन निर्धना, धनिकाश्च समानरुपेण शिक्षां प्राप्नुयुरिति दयानन्दमतम् । महान् खल्वयं समाजवाद: शिक्षाक्षेत्रे । अस्याभाव एव शिक्षाक्षेत्रेऽप्यारक्षणव्यवस्था समाश्रिताऽद्यत्वे परं नायं रोगस्य समुचित: प्रतिकार: । गण्डकस्योपरि स्फोटोऽयम् । यदि शिक्षा सर्वकाराधीनाऽऽवश्यकी च भविष्यति तदैवे-

यमसमानता दूरी भूत्वा निर्धना धनिकाश्च छात्रा: समानरुपेण शिक्षां प्राप्स्यन्ति राष्ट्रं च सम्पूर्णमेव शिक्षितं भविष्यति। तदा नास्त्यावश्यकता आरक्षणादीनाम्। एवं महन् क्रान्तिकारी विचारो ऽयं दयानन्दस्य शिक्षाया अनिवार्यत्वं नाम। अश्रुतपूर्वा महती समाजवादिता प्रदर्शिताऽत्र दयानन्देन।

७. अवकाशरहितता—दयानन्दीयशिक्षापद्धतौ प्राचीन शिक्षापद्धतौ वा नास्त्यध्ययनावकाश:। इतो विपरीतमवकाशप्रधाना अद्यतनीया शिक्षा। शीतकालीना: ग्रीष्मकालीना, राष्ट्रियाश्चावकाशा अद्यत्वे सर्वत्रविलोक्यन्ते। सम्पूर्णेऽपि वत्सरे पञ्चमासपर्यन्तमपि न पाठ्यते इति वयं सर्वे विद्म एव।

८. आचार प्रधाना—शिक्षका अपि धार्मिका: सदाचारिण: स्युर्येन शिक्षा सदाचार-प्रधाना स्यादिति दयानन्दमतम्। अद्यत्वे शिक्षकाणां कृते चरित्र—आचार विषयकं परीक्षाप्रावधानं नास्ति। केवल धनेन, बलेन, छलेन येन केनापि प्रकारेण उपाधिं प्राप्य शिक्षका भवितुमर्हा:। साक्षात्कारेऽपि किं पठितं, किं लिखितं, कस्तेऽनुभव इत्यादि-कमेवपृच्छ्यते केवलं न तु किं ते चरित्रं किं ते लक्ष्यं, किं ते पथ्यं किं ते अपथ्यमिति किमपि न पृच्छ्यते। येन कर्मचोरा, भ्रष्टाचारिण: प्रमादिनोऽलसा अपि शिक्षकपद प्राप्नुवन्ति दूषयन्ति च शिक्षाक्षेत्रमिति को नाम न वेत्ति। महाविद्यालयेषु नैके प्राध्यापका: स्वकीयं पवित्रं दायित्वम ध्यापनं नमस्कृत्यान्येषु कार्येषु राजनीतौ च व्यापृता भवन्ति। विद्यालयेषु तु ट्यूशन इति नाम्ना शिक्षकेरेव छात्रशोषणं क्रियते। दयानन्द पद्धतौ सर्वे मानवा शिक्षकसदृशं पवित्रं पदं प्राप्तुमनर्हा:। दयानन्दशब्देषु जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें किन्तु जो पूर्ण विद्या-युक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।

एवमेते शिक्षासिद्धान्ता: शिक्षापद्धतौ महर्षि दयानन्दस्य मौलिकं चिन्तनं प्रतिपादयन्ति।

लोक राज्ये शिक्षायाः स्थितिः।

डा० विजयपाल शास्त्री
रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

लोकतन्त्रात्मिका शासनपद्धतिर्न काऽपि नवीना भारतीयेभ्यः। भारतीयानां पुरातनसाहित्यानामवलोकनेन ज्ञातं भवति यदस्माकं भारते ऽनेकविधाः शासनपद्धतयः प्रचलिता आसन्। अथर्ववेदे प्रत्यपादि—

त्वां विशो वृणतां राज्याय
त्वामिमा प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥
—अथर्व- ३-४-२

अस्य मन्त्रस्यार्थो विद्यते यत् प्रजा एव राजानं राज्यायं वृणुताम्। सर्वा दिश ऐकमत्येन स्वाधिपतिं चिनुयात्। राजा राष्ट्रस्य हृदये वसतिं करोतु। उग्र. समर्थो राजा प्रजासु समत्वेन धनं विभज्यात्।

अस्मिन् मन्त्रे लोकराज्यस्य मधुरां कल्पनां द्रष्टुं शक्नुमो वयम्।

सौभाग्यात् सम्प्रति भारते लोक राज्यात्मिका शासन पद्धतिः प्रतिष्ठापिता विद्यते, किन्त्वाधुनिके लोकतन्त्रे लोकराज्यस्य तत्स्वरूपं नावाप्यते यस्य कल्पना वैदिकैः ऋषिभिः कृतासीत्। प्राचीने भारते कस्यचिदपि श्रेष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं वा जन्मना न मन्यते स्म, अपितु तस्य कार्याणां हीनत्वमुत्तमत्वं वा प्रेक्ष्य निर्धारितं कृतमासीत्। राजा प्रजाया एव प्रतिनिधिरासीत्। निजगुणयोग्यता, कौशलयुद्धसामर्थ्यादिकारणात् विशिष्टं राज-पदमवाप्तुमपारयत्, स्वकर्त्तव्यतापालनहेतोः किञ्चिदधिकं ऐश्वर्यमधिकारांश्च लभते स्म। प्रजाभिरेव तेऽधिकारास्तस्मै प्रदत्ता आसन्। भाविनो नृपस्य शिक्षा गुरुकुलेषु सुयो-ग्यशिक्षकैः प्रदीयते स्म। यथाऽऽह कालिदासः रघुवंशे यत् रघोः शिक्षा गुरुकुले जाता—

अथोपनीतं विधिवद् विपश्चितो
विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अबन्ध्ययत्नश्च बभूवुरत्र ते
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥

प्राचीन भारत नैतिकताया राजनीतेश्च समन्वयतायामेव विश्वसिति स्म । ईदृशी एव स्थितिः लोकतन्त्रनाम्ना कल्पित ऽऽसीत् । किन्तु सम्प्रति एतद्विपरीतमेव लोकतन्त्रमवलोक्यते । अस्मिन् लोकतन्त्रात्मके शासने सर्वत्र सर्वविभागेषु अधर्मेणान्यायेन च धनस्य र्जनम् खाद्यपदार्थनां संग्रहणम्, पदार्थेषु हानिकारकपदार्थमेलनं च दृश्यते । । राजनेतारो मन्त्रिपद्प्राप्त्यर्थं हिंसाद्याचरणं कुर्वन्ति । मन्त्रिणस्व स्वस्वप-दरक्षण चिन्तायां संलग्नाः । देशस्य चिन्ता न कस्यापि । एतस्मात् कारणात् सर्वत्र स्वच्छन्दता प्रसृता ।

लोक राज्यस्य रक्षार्थं लोकस्य यत्कर्त्तव्यं वर्तते तस्य पालनमद्यत्वे मनागपि न विधीयते । अस्य मूलं कारणं, अशिक्षा कुशिक्षा विपरीत शिक्षा च विद्यते । अद्यापि देशस्याधिकतमा जनता शिक्षारहिता । यावत्यपि जनता शिक्षिता ऽस्ति साऽपि दु.शि-क्षिता एव । शिक्षाशून्यत्वादेव सम्प्रति अस्माकं लोकतन्त्रात्मिका शासनप्रणाली नितरां विषीदति । स्वार्थसाधनपराः शासकाः शिक्षां प्रति सर्वथा उपेक्षाधियमाकल-यन्ति । कस्यापि मनागपि ध्यानं नास्ति शिक्षादिशि । शिक्षाया महनीयता मुपादेयतां च स्वीकुर्वंन्तोऽपि ते नेतारस्तामवजानन्ति । यदि कोऽपि शिक्षकः शिक्षायाः समु-न्नत्यर्थं प्रति तान्प्रेरयति तदा कारागारेषु निक्षिप्यते स । इयमस्ति दुरवस्था लोक-तन्त्रात्मकस्य शासनस्य अस्माकं भारते ।

कस्यापि राष्ट्रस्य समुन्नतेर्मूलं सुशिक्षैव भवति । लोकतन्त्रस्यापि रक्षणं तावत् न केवलं कठिनमपित्वसम्भवमेव विद्यते यावदत्र सदाचारपरायणा शिक्षा सदाचार-निष्ठाश्च शिक्षका न स्युः । अद्य विश्वविद्यालयेषु उच्चपदेषु प्रतिष्ठिता ये प्राध्यापकाः सन्ति वस्तुतो न ते सुशिक्षिताः । साक्षरा एव ते केवलम् । अध्यापन तिरस्कृत्य राजनीतिरताः । शोधपरान् छात्रान् शोषयन्ति ते । धनार्जनमेव तेषां लक्ष्यम् । कतिचिद-

ध्यापकास्तु वर्णज्ञानेनापि शून्याः सन्ति । अध्यापकनाम्नि कलकभूता एव ते । किन्तु राजनैतिक प्रभावेण तेषामेव सम्मानमद्य वर्तते ।

अद्यतनीया शिक्षा वञ्चकत्वमेव शिक्षयति । गुण्डातत्त्वान् जनयति । राजनीतिः छलनीतिर्जाता । यस्य प्राध्यापकस्य सम्बन्धः शासकैः सह विद्यते तस्यैव पदोन्नतिः तस्यैव सम्मानं चास्ति । स एव कुलपतिपदमध्यास्ते । विदुषो न कुत्रापि सम्मानम् । लोकतन्त्रस्य रक्षणार्थं सर्वोत्कृष्ट तत्त्वमस्ति जनतायाः सुशिक्षितत्वं तस्या जागरूकत्वं च । मतदातॄणां शिक्षणमेतावन्तु सुतरामावश्यकं यत् ते स्वदेशस्य सामाजिकान् धार्मिकान् आर्थिकान् राजनीतिकांश्च प्रश्नानवगच्छेयुः । कोऽपि प्रभावः शिक्षित जनं मतदानाय विवशीकर्तुं क्षमः ।

एतावती शिक्षाऽवश्यमेव सर्वेभ्यः प्रदीयेतं येन जना निर्वाचनकाले स्वतन्त्रतयां स्वमतं प्रदातुं प्रभवेयुः । प्रादेशिकतावादः जातिवादो वा तान् न प्रभावितान् कुर्यात् । प्रभावो न केवलं धनस्य बलस्य वा भवति किन्तु बन्धुताया धर्मस्य जातेः स्थान-विशेषस्य प्रेम्णो भयस्य चापि भवति । अद्यत्वे प्रायेण विलोक्यते यत् उच्चतम शिक्षावन्तोऽपि विद्वांसोऽपि मनुष्याः धर्मेण जातिवादेन, मैत्रीकारणात्, सम्प्रदायेन भाषाया अनुरोधेन वा प्रभाविताः सन्तः निर्वाचनकाले तेभ्यः प्रत्याशिभ्यः स्वमत वितरन्ति ये प्रतिनिधिभवितुं प्राथमिकीमपि योग्यतां दधति, येषु स्तोकाऽपि लोक सेवाभावना न भवति । स्वार्थभावनैव तेषु प्रसरति । धनलोभेन भयेन वा मतदानं लोकतन्त्रं विनष्टं करोति । शिक्षाया अभावेन सम्प्रति दुष्टा आपराधिका कुत्सिताचरणाश्च जना निर्वाचनं विजित्य मन्त्रिपदं लभन्ते स्वेच्छाचारं च विदधते । अद्य सत्पुरुषा राजनीतेर्बिभ्यति ।

अस्या दुरवस्थाया दूरीकरणाय सम्प्रत्येक एवोपायो विद्यते यत् सर्वेऽपि जनाः सदाचारस्य शिक्षां लभेयुः । सर्वकारस्यैव कर्त्तव्यमिद यत् स सर्वेभ्यः शिक्षां सुलभ्यां कारयेत् ।

इदानीमपि अस्मद्देशस्य शिक्षासंस्थानेषु आंग्ल शासनकालीनाया इव शिक्षापद्धत्याः प्रसारो व्यवस्था चास्ति । अस्मादेव कारणादद्य युवानो शिक्षालयेभ्यः शिक्षिता भूत्वा निर्गच्छन्तोऽपि लोकतन्त्रानुकूलव्यवहारा नावलोक्यन्ते । न तेषां हृदयेषु राष्ट्रभक्तिः प्रज्ज्वलन्ती दृश्यते, न च स्वावलम्बितत्वं विलसति, न तेषु ज्ञानलिप्सा प्रदीप्ता विलोक्यते, न चारित्र्यस्य प्रोज्ज्वलता लभ्यते, न च तेषां मनांसि हृदयानि च विमलानि द्रोहरहितानि वा विलोक्यन्ते । वस्तुतो यावत्पर्यन्तं सदाचारवादिनी शिक्षाऽस्मद्देशे न प्रसृता स्यात्, शिक्षां शिक्षकं च प्रति उन्नततया ध्यानं दत्तं न स्यात् तावल्लोकतन्त्रपद्धतिरत्र वन्ध्यैव सिद्ध्येत् ।

महाभारते लोकतन्त्रविषये निगदितं यत् यस्मिन् लोकराज्ये नागरिकेषु सदाचारिता सुशिक्षितता द्रव्यसम्पन्नता शूरता शस्त्रशास्त्रविद्या विशारदता च समवाप्यते तत्रैव लोकतन्त्रस्य साफल्यं सम्भवति नान्यथा ।

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञा : शास्त्रपारगा ।
कृच्छ्रास्वापत्सु सम्मूढान् गणाः सन्तारयन्ति ये ॥

तत्रैव भीष्मो युधिष्ठिरमुपदिशति यद् यस्मिन् लोकराज्ये जनाः परद्रोहकलुषिताः परशोषणरताः, परनिग्रहदत्तचित्ता हिंसकाश्च भवन्ति तद् राज्यं शीघ्रमेव शत्रुवशं प्राप्नोति ।

क्रोधो भेदो भयं दण्डः
कदर्थं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो
गणान् भारतसत्तम ॥

वस्तुतो लोकतन्त्रस्य कृते प्रौढमतीनां ज्ञानवृद्धानां परहितपरायणानां परवचनाकषाय रहितानां सुदृढागाध राष्ट्र भक्ति भावितचित्तानां विदुषामपेक्षा भवति । सुशिक्षिता एव विद्वान्सो द्वैधीभावरहिता भवितुमर्हन्ति । अशिक्षिताः स्वार्थसंसाधनपरा मनुष्याः परस्परमधिकं कलहायन्ते । इतिहासो वदति यत् द्वैधीभावबलेनैव आंग्ला अस्मान् जेतुं शासितुं च क्षमा अजायन्त । अद्यापि अस्माकं देशो ऽस्माद् द्वैधीभावाभिशापात् निर्मुक्तो न जायते इति महच्छोकास्पदम् ।

'भेदमूलो विनाशो हि
गणानामुपलक्षये''

इति महाभारते भेदनीत्या लोकतन्त्रस्य विनाशकत्वं प्रतिपादितम् ।

संक्षेपेण प्रतिपादनीयमिदं विद्यते यत् लोकतन्त्रे महती सावधानता ऽपेक्षितव्या । तत्रैव लोकतन्त्रं साफल्यं भजते यत्र सदाचारः सुशिक्षा न्यायप्रियता, सौहार्दं सामाजिकसमानता अर्थवैषम्याभावः, राष्ट्रभावना, मानवतावादिनी नीतिः सेवाभावना सामाजिक कल्याणवती प्रजा, आजीविकायाः समस्याया अभावो लेखनपठन पाठन विचारणस्वातन्त्र्यं, नारी सम्मानं बाह्यमाभ्यन्तरं स्वस्थं पर्यावरणं च विलसति ।

अतोः देशस्य परिरक्षणार्थं लोकतन्त्रस्य च साफल्यार्थं सर्वविधसमुन्नत्यै नागरिकाणां प्रधानमिदं कर्त्तव्यं विद्यते यत्ते शस्त्रस्य शास्त्रस्य चोभयविधां सदाचारवादिनीं विद्यां प्राप्तुं कृतप्रयत्नाः स्युः ।

English Section

Consideration of Environment & Values in Shri Aurobindo's Education System

Girish Jha
Yoga Researcher
Central Research Institute for Yoga
68, Ashok Road, New Delhi
& Managing Trustee
Ritambhara Prajna Foundation, Delhi

Education is search for knowledge through the faculty of mind bestowed to man by the providence. Man or Manushya is a mental being which seeks harmony, delight, perfection in every endeavour he does in his life Mind is in transition and constantly at work as it has a new level of awareness in man—choice, control and awareness, And this is because all life is learning. Shri Aurobindo, a revolutionary yogi who proclaimed, all life is Yoga. By yoga, he meant, conscious self finding or discovery of self. Sri Aurobindo says, "By yoga, we mean—methodised effort towards self perfcaetion by the expression of potentialies talent in the being and union of the human individual with universal and transcendent existence we see partially expressed in man and in cosmos "

Education is not merely an accumulation of information from outside and thereby strengthening the memory bank, unconsciously for utilising it in meeting the demands of our lower nature i.e. desires, fancies, material possessions sensual drives, egoistic needs etc. Instead, it is a conscious process of accumulation while awakening the faculties within and establishing harmony within every layers of our existence and the world around us thereby considering the values and environment as necessary tools for perfection, knowledge, delight peace and harmony.

Shri Aurobindo's vision of education is a life long process of learning, assimilating the right, rejecting consciously what is not

desired, awakening the dormant areas of mind for becoming creative aesthetic, artistic in every persuits, integrating the linear with multidimensional movements of our personality and at last realising the ultimate in beauty, delight, strength. knowledge & harmony.

What is the Aim of Education

Present education system concentrates on accumulation of knowledge, strengthening the mechanical mind to store by any means directed towards employment in order to fulfill the demands of our lower nature i e. material riches, sensual pleasures, physical needs etc.

Mother, an associate of Shri Aurobindo put the guiding principles of the new ideal of education as Truth. Harmony and liberty. Further, she said purpose of education should not concentrate on linear perception that leads to lopsided development. Instead it should concentrate on developing integral perception in which one begins to perceive things spherically, globally in which all contradictions doubts, ideals meet together in harmony.

Sri Aurobindo says the only true education is one that offers to man, as its central object, the growth of the psychic being.

The psychic, wrote Sri Aurobindo, ' is the spark of the divine fire which upholds the evolution of each individual upon earth. It is the soul consciousness that grows life after life or rather that becomes more manifest through the instrument of mind, life and body, until all is ready for union with the Divine."

Modern system of education labours more on the right environment, right motivation, creating interest in a particular subject by stimulation and other outer means but miserably fails to develop and transform the human psyche that is evident in the world today.

The great master, Sri Aurobindo has taken the base of education as the awakening of centre within free from ego and developing the faculties around that centre by various means from the external world. In this way, every information received within is taken care of, every details assimulated, understood made an integral part of our personality. If that is so, then education is conscious evolution of human being and gradual transformation of animal nature, standstill mentality and manifestation of creative, dynamic, artistic, integrative personality.

Education is conscious process of perfecting various instruments/various layers of our existence gradually for the manifestation of not only the dormant faculties but also for the expression ot thought. speech and action in delight, beauty, peace for the sake of harmony, compassion, liberty and also for the sake of existence, consciousness and bliss. Education is not becoming an instrument of age thereby swayed by lower nature and human instincts. It is becoming perfect instrument of divine-one and one in all, any time and all the time.

When to Begin This Education

Sri Aurobindo's proposed that education should begin even before birth, in this, case it is the mother herself who proceeds with th's education by means of a two fold action first. upon herself for her own improvement, and secondly, upon the child whom she is forming physically.

The nature of the child to be born depends very much upon the mother who forms it, upon her aspiration and will as well as upon the material surroundings in wh'ch she lives,

Infact real education begins in the womb itself and everything depends upon the mother - her attitude, her ability to respond to different circumstances, her emotional maturity and consciously knowing all the time she is educating and sowing the seeds of education to her child.

Modern Education System Needs a Change

Modern Education System may be called as toning up of Information gathering system Students are burdened with lots of subjects within a short span and suggested to gather the information for passing the examination. A student learns a little of the subject in a year, goes ill equipped, remains imperfect in that branch of knowledge is partially or not applied at all during one's life time, thereby loosing the essence.

The frequent change of subject as modern educationist] confirms, gives rest to the mind. This trains the mind of students mechanically and constant shift of attention of mind do not enable the student to learn prolonged concentration Modern Education system makes every subject boring, uninteresting and repellent to the child lends to agitation and restlessness.

The whole Indian Society is in transition—unconsciously adopting the modern values without realising the consequences and experiencing extreme difficulty in rejecting the traditional values. The phase of transition is the phase of conflict between age old verified traditional values and modern values borrowed from the west This conflict has brought on surface of human psyche—the agitation, restlessness, frustration, lack of interest in studies, violence and commercialisation of education.

Modern Education system produces commercial teachers, who in turn teach students. Being recognised as a teacher means a computer who passes the borrowed information to students. And this on one hand reflects the hollowness of teachers within and students realises a big gap between the teachings and teachers, ideals, values and reality. A pure, ever developing mind receives destructive information from schools and colleges of modern education system. A student does not lead his own life through education but is lead by the values and environment prevelent in the Modern Education System.

No where in school/colleges of modern education system concentrates on making students aware of aim of education — which means real aim of education. The students in the absence of guidance—compelled to be influenced by values and environment prevelent in their homes, schools and society — unconsciously dictated by the impulses of external world—fall into illusion and confusion. The student remains a stranger to knowledge — to education. Perhaps modern system makes a student a stranger in the world.

Ingradients of Education

Knowledge is between the knower and unknower. Unknower is student, knower the teacher and knowledge is communication/transmission between the two. There must be perfection at all levels in order to fulfill the real aim of education. The student is a human being living with different layers of existence same as that of teacher with only difference of ignorance and knowledge.

The body, life, mind, emotions, intellect and divine element within student must be in harmony to receive and in the same way

teacher's personality should also be in harmony to offer, to transmit, to give the knowledge to students. And knowledge and its expresssion should be integrally related to both teacher's and student's life, mind and body. There must be an approach towards Reality — Relative and Absolute in the expression of knowledge so that students not only awakens, refines his own faculty but expresses interms of harmony, peace, perfection etc.

Present Period is very Important

The present world outside with all its violence, discord progress, advancement in science and technology and burning aspiration within for the knowledge of truth of the universe and existence is indicating that the entire human race is in an extra - ordinary period of transition. Sri Aurobindo visioned that young — the students are privileged in this hour of challenge - privileged because their tender minds are exposed to abundance of knowledge as compared to all of us when we were in educational institutions And also because, they are less burdened by the weight of the past and extremely receptive and sensitive to the inner voice.

So a new education, Sri Aurobindo says, "the education of the future is needed at this hour, so that hearts and minds of the young may plunge deliberately into the adventure of tomorrow.

It is imposssible to respond clearly and correctly to the challenges of the new world order from the accumulated knowledge of the past or mechanical mind or the present education system Everything has changed a great deal from external world to world within the human race so the education system with its values, teachers and students must change in order to respond perfectly to changing world order and manifestation of divine in the human race.

Integral Education of Sri Aurobindo

Education to be complete must have five principal aspects corresponding to the five principal activities of the human being: the physical; the vital; the mental; the psychic and the spiritual,

1. *Physical Education*

a) Control and discipline of the functioning of the body.
b) An integral, methodical and harmonius development of all the parts and movements of the body.
c) The correction of any defects and deformities.

Physical education is an essential factor as without its proper education, man can never respond properly to challanges put forth by the nature, society, environment and daily activities. The initial programme in the education should be concentrated upon to make a student/child aware of proper intake of food, proper evacuation etc This will prevent unnecessary burden upon child and keep mind free to evolve further. This education provides minimum knowledge of human body, its structure and functioning minimum knowledge diet best suitable for one's growth and awareness of organs of evacuation; further child be helped to develop ataste for food that is simple and healthy, substantial and appetising. The children from the begining should be taught to enjoy cleanlinees and deserve hygienic habits without forcing or fear and respect healthy living habits so that they can repel attacks of illness.

The children should be made aware of different parts of body and their specific works and should be taught a methodical development all parts of the body. They should also be taught how to relax nerves, body during sleep and how to keep calm, peace during activities.

2. *Vital Education*

The vital refers to the energy system is responsible for power, energy, enthusiasm, effective dynamism Integral education believes that fundamental change demands an almost complete mastery over the impulses, instincts and a very rigourous disciplining of whatever cares the lower mind. This education has two fundamental aspects :

i) The first concerns the development and use of sense organs.

ii) The second the progressing awareness and control of character, culminating into its transformation.

The sense organs, if properly educated leads to optimum development of them, thereby using it for attaining perfection. These sense organs, if properly trained can lead to an ability to project it out of oneself in order to experience right' hearing, smell, taste and even touch at a distance. This education begins with cultivation of discrimination and of the aesthic sense, the capacity to choose and adopt what is best, simple, harmonious, pure and delightful. They should be taught to pick up from their senses everything that is beautiful, delightful, peaceful and concentrate upon them in order to infuse them into their consciousness.

The progressing awareness and control of the character can be developed by teaching childern to observe, understand their reactions and impulses aud also their causes. They should be taught to become aware, constantly become aware of their persions, violent activities, desires, instincts of possession and appropriation and domination, weakness etc. This observation should be accompained with will for progress and perfection.

This education can be imparted in many ways depending on the temperament of child i e by effective rational arguments by caring and loving, making by them emotional to go for these objective, by examples

. ***Mental Education***

The child-a becoming man is basically a mental being borrows character, attitudes, thoughts, desires from parents, teachers, collegues, friends, relatives at different times and conditions himself to behave in a particular way. Integral education proposes five phases of mental education.

i) Development of the power of concentration, the capacity of attention.

ii) Development of the capacities of expansion, widening complexity and richness.

iii) Organisation of one's ideas around a central idea, higher ideal or a supremely luminous idea that will serve as a guide in life.

iv) Thought control, rejection of undesirable thoughts to become able to think only what one wants and what one wants.

v) Development of mental silence, perfect calm and a more and more total receptivity to inspirations coming from the higher regions of the being.

The childern should be taught the power of concentration and capacity of attention by arousing interest in anything they do specially in games, sports, daily activities which leads to sustained attention. The substained attention leads to absorption in work resulting into success They should be taught to develop liking for work and will to progress. love to learn anywhere while observing keenly, recording perfectly and memorising totally. The childern should be taught to develop the capacities of expansion, widening. complexity and richness of mind by making them understand anything or subject in many ways with the available knowledge to mankind and with different tools at their disposal.

The childern should be taught to control mind, reject undesirable thoughts so that they become capable to think only what they want by observing the movemant of thoughts and gradually entering into a state of inviting only those contents in mind that are desirable, helpful to one's growth, progress and perfection They should be taught or made to understand that mind is the end of mental existence but encouraged to develop mental silence, perfect calm and a more and more total receptivity to inspirations from higher regions of the being.

4 & 5. Psychic & Spiritual Education

This discovery within oneself leads to mystic feeling should not be conditioned by any religions dogma, belief, cult but should be replaced by more philosophical notion of truth. In this way, child is able to learn and discover, understand and realise the truth. This education can be imparted by teaching child to seek in himself what is independent of body and circumstances of life, not born of mental formation, the language he speaks, the habits and customs, the environment he lives. He should be encouraged to find in depth of his own being that which carries in it a sense of un versality, limitless expansion, unbroken continuity. The childern should be taught to give up all personal seeking for comfort etc. and drive pleasure jn all they do but never do anything for the sake of pleasure, to maintain calm in all circumstances and reject consciously all excitements, nervousness, agitations. The spiritual education is based on goal and Its mental formation like God, Nirvana Absolute Reality, Truth, will bring transformation of nature, a transfigeration of the being in its entirety, a new ascent of the species above and beyond man towards superman, appearing in the end to the appearance of a divine race upon earth·

Integral Education as visioned by Shri Aurobindo and mother understands, every layers of human existence in relation to Universal and Transcendental Consciousness thereby taking care of all factors of environment on one hand and values on the other hand. This kind of education is feasible, practicable anywhere and everywhere, irrespective of Caste, Creed, race, dogma belief, cult, religion which makes it more lively, harmonious, integrated

and synthetic, But it calls for bringing together the objective and subjective realities and seeks the transcendental reality upon which everything depends. It is essential to create an strong bond between Teacher and Student so that both in their own from their own levels continue to receive knowledge through world of activities and formal education for a better world, peace, harmony, delight in the world.

References

1- The Complete Works of Sri Aurobindo, Sri Aurobindo Ashram Pondicherry.

2- The Complete works of Mother, Sri Aurobindo Ashram, Pendicherry.

Importance of Environment and Values in Vedic Literature

Dr. Yajanveer Dahiya
Professor & Head Department of Sanskrit
Pali & Prakrit & Dean Faculty of Humanities
M.D. Univ. Rohtak Haryana

The sacrifice is a part and parcel of the Vedic leterature In fact, it is a basis of the human life Everything of a vedic seer is abounding in sacrifice. This may very well be understood through the perception of a vedic seer himself. He makes an observation.[1]

Another seer mentions.[2]

It is not enough but the Atharvaveda proclaims to human-beings to perform sacrifices, season-wise daily, monthly and yearly, so that the seasonal deities may be stimulated to get their favour and the environment upto the mark for human-beings.[3]

Keeping in view the importance of sacrifice shathpath Brahmana proposes.[4] It means the sacrifice is the most noble act which keeps the human values and purify the environment as a whole It signifies the worship of all the deities concerning terrestrial, celestial and spiritual. The ritual makes the whole environment free from deseaee. The concept of sacrifice is to augment the power of natural elements existing in the terrestrial and celestial sphere, The self - accomplishment evolved out of the ideas of worshipping deities; and doing the science of Mantras; to perform the various

1— Rigved I (164.50)
2— Rigveda III (32.12)
3— Atharva Veda III (10 9)
4— Shath Path Brahmana I (7.15)

duties concerned with the compartmentalised life of an individual in the society; and to perform symbolic rituals for the exposition of the vedic thought evolved out of the tendency of worshipping the ritual deities. The offering made in kind to the living-beings those are around us, gave rise to other forms of sacrifice. The sacrifice in a form of environment creates a new thing out of the combination or mixture of two or more things which ultimately signifies the technological development and advancement of various forms of sacrifice Thus the sacrifice is evolved to attain accomplishment in various spheres of life in the form of values The sacrifice is used as a strong and effective tool to bring the desired changes in the natural phenomena or weather modification like the change of the air-flow in terms of direction and speed, formation of clouds, seeding supercooled clouds, rain making whenever and where ever, so desired, preventing undesired rains control of pollution and prevention of various diseases of men, animals and plants. Thus, it keeps the environment free from the enemies of life-being.

Now the questions arise as what are the basic principles underlying the science of sacrifice ? How does it matter in environment modification, pollution control and prevention of diseases ? Before to get an answer to all these questions, it is necessary to understand the actual process of sacrifice as depicted in the vedic literature Normally. a sacrifice consists of three elements: (a) fire (B) an offering material (c) and the deity to whom the material is offered Katyayan srauta-sutra proposes regarding the sacrifice in the following term [1] The sacrifice is offering the specific material to the specific targetted deity by means of fire Thus all the above

1— Katyayan Sranta Sutra I.2.5

mentioned elements, viz, fire, offering material and a deity are included in the aforesaid definition of sacrifice. This is what is the actual meaning, purport and propose of the sacrifice form of the vedic sacrifice All the three elements play a vital and crucial role in the proper prosecution of sacrifice in the other words environment mechanism of the vedic literature.

The environment contains a great impact on the physical body. In other words there is a close similarity between an organic whole and the organisation of the universal whole. This similarity is also known as the similarity of individuals' body to the universal body. Just as the universe is a composition of five i e. gross elements, so is an organic body composed of these five elements. These elements are supposed to exist in the organic body or universe in a balanced or organised manner or ratio. As long as this balance or organisation is maintained. the organic body survive and the nature takes its normal course, but the imbalance or disorganisation of elements disturbs the normal course of bodies and nature as well & ultimately leads to their destruction or end. Just as the environmental factor i.e air, fire, and water are the dominant factors in the operation of the universe.

Since air effected as caused by sky, it can not exist without sky. Where there is sky there is air and where there is air, there is touch as well as sound. It got a thermal state or say a thick gas marked with a colour. Its own property is Appearance, due to which it becomes visible. In addition. sound and touch are inherited from the sky and air. Since the fire owes its effect to air it can not exist without air, Where there is fire, there is air and where there is no air, there can not be the fire. The elements of eir, viz. oxyzen which is helpful in burning, and hydrozen, which has a burning

characteristic are the main factors in the origin of fire.[1] The fire gave effect to waters It had its own property as taste and the sound, touch and colour were inherited from either, air and fire respectively It occupied a liquid state. It was caused by fire, hence it is composed of the fire agents; viz. oxygen and hydrogen. The earth arose from waters. It was still grosser than waters, hence got a solid form.[2] It is an outcome of waters. hence still sustained by waters. In fact all these gross elements are responsible for environment, which are perfectly dealt by the seers of vedic literature.

Diety of vedic literature is the name of a natural element or sub-element existing in various zones of environment. Actually, देवता is the देव itself; देव इव देवता since like that of देव it also helps the existence and regulation of life on the earth by providing some necessity or other. According to the यास्क an ancient Indian etymologist [3] They are called deities, since (a) either they provide us with some necessities of life or help the existence of life cycle on the earth, e.g the sun provides us with the light and sun-shine, the मित्र Oxyzen, इन्द्र lighting. सोम coldness and humidity in the environment, मरुत air, वरुण hotness and dryness, पर्जन्य clouds अभ्र super-cooled clouds, पहर वा thundering clouds रुद्र thunder storms, अदिति vaporisation of terrestrial waters and other aqueous substances into the upper layers of environment etc. (b) or since some of them are luminory bodies (c) or since some of them are celestial bodies or they have their abode in the firmament (dyuloka). Actually, each natural phenomenon is considered to be the function of some unforseen natural powers, which controls the environment,

1— Tait. upanisad Brahmavalli Ist Anuvak

2— Tait upanisad Br. Valli Ist. Anu.

3— Nirukta II. 1

and hence each one i. e natural phenomenon is associated with some foster deity. Before a natural phenomenun materializes several other functions are required to work out This diversity or variety of functions in a natural phenomenun led to the diverse naming of the one and the same diety. यास्क also proclaims[1] शौनक relates[2] this fact, and also[3]

These deities have been numbered sometimes 33, sometimes 3300, sometimes 33 lakh and sometimes 33 crore, from the view point of their various functions and powers. The whole environment has been divided into three zones in the vedic literature, namely terrestrial sphere, midsphere and celestial sphere. The whole environment abode by some gross element or other and governed by a presiding diety and several others as subordinate deities. Terrestrial sphere is the main abode of solid and liquid matters such as earth and water and is governed by fire (अग्नि) as presiding deity and जातवेदस्, वैश्वानर, द्रविणोदा, तनुनपात्, नाराशंस, वृषभ etc. as subordinate deities. यास्क bears out the same fact[4] of. also[5] cf. also[6]

The midsphere is the above of gaseous elements such as air and water vapours. It is governed by इन्द्र and वायु as presiding deities and पर्जन्य, रूद्र, बृहस्पति, अपानपात्, पुरूरवा, अदिति, त्वष्टा, सविता, वात, वाचस्पति, सोम, मरूत, अगिरस, ऋभु, पितृ etc. as subordinate deities,[7] and also.[8] These are the principal deities. And for subordinate

1— Nirukta II 2
2— Brhad Devata I 70
3— Brhad Devata I 71
4— Nirukta VII. 5
5— Brhad Deveta I. 73,
6— Brhad Aranyaka I, 105
7— Nirukta VII 5.
8— Brhad Deveta I. 73

deities.[1] The celestial sphere is the main abobe of thermal elements and is dominated by सूर्य as a presiding deity and अश्विनौ, वृषाकपायी, सूर्या, उषा, पूषा, वृषाकपि, यम, विष्णु, आदित्य, वरुण etc. as subordinate deities. Thus,[2] it is clear from the above discussion that the vedic deities perform great role regarding the environment and its values in vedic literature.

An offering material is a particular type of selected material qualified to augment the material power or energy of the respective diety, it is meant for. This particular type offering material when released to the sacrificial fire is taken up by it in conjuction with the air in its gaseous form through its column established with the help of the gravitational force of celestial fire to the targetted deity in the upper layers of the environment. There it mixes-up with the targetted deity and thus remedies the deficient potential or say augments the power and property of the targetted deity by tens of thousands times in its environmental zone, The vedic literature proclaims that the offering of a particular substance is capable of augmenting the power and property of a particular concerned deity and not of all the deities.[3] From the view of this statement of शतपथ ब्राह्मण it is evident that the vedic deities play a greater role in keeping the environment clean and safe.

Deity is the name of a standard element or sub-element abiding in the midsphere or celestial sphere to whom the material is offered with the help of the sacrificial fire and the same spread in the air in the form of the smoke. This smoke is not an ordinary smoke but a special smoke which come out with the mixture of butter oil,

1. Nirukta VII-10
2, Brhad Devata II-8-II. 16
3. Satpath Brahmana II. 1.2 5

some branches of special trees and material which is made out by some Ayurvedic medicians. When such type of smoke spread in the air then it purify the whole of the environment. Thus, the sacrifice boost the power and potential energy to all the life-being. The same thing is proclaimed by the Vedic seer.[1]

Perhaps owing to the same characteristics of sacrifice, the vedic literature has explicitly mentioned to strengthen the essence or potential energy of each and every deity with the help of sacrifice for the prosperity and well being of the planet and planetary life [2]

It is evident from the above facts that the vedic literature is having the mature treatment of the environmental values.

Fire plays most important role to keep environment upto the mark. The terrestrial fire which is the representative form of the celestial fire has been attached a great importance among the three elements of sacrifice. As the RV. put it.[3]

Agni should be brought first in the sacrifices. Yaska also by way of eytmolozing expresses similar view regarding Agni.[4] Agni is what is brought first in the sacrifices.

The Rgveda at the very out set calls Agni as the leader of the sacrifice phenomenon.[5]

This characteristics of agni has been extolled at several other places in the vedic literature.[6]

---

1 Rgneda III, 32.12.

2. VS. Sam. XXVIII. 44, TB. II. 6 201.
RV I. 26.6; SV. II 9.68,
RV. VIII 27.13, VS XXXIII. 91.

3. Rgveda VIII. 23.22

4. Nirukta II 1.

5. RV. I. 1 1.

6. RV. V. 11. 2. SV 909, TS IV. 4. 3.

Thus, form the quotations guoted just above, it is expiicit that Agni pleys most important role in performing the sacrifices and sacrifice is the only way out which keeps the environment clean & free from the diseases Sacrliice purifies the air and purified air when brsathed by the life-being, it becomes medicine and removes all the diseases what so ever. In this way the sacrifice makes the environment perfect for the universe. Right from the very beginning the sacrifice in vedic literature was considered to be a strong and effective tool to get hold over the whole environment. Thus, the sacrifice changes the weather, controls the air pallution, prevents the deluges, droughts, storms and diseases Ail these things are the part of environment. Therefore, the treatment of environment in the vedic literature is perfectly alright and keeps the high standard and values.

Importance of Yoga In Education System

Dr. (Mrs.) PINKI BHANOT
Sagar University
SAGAR (M.P) 470 003

ABSTRACT :

There is a growing conciousness among Indian educationists to give a different and better type of education to our new generation and many of them have shown interest in learning and teaching of Yoga. There is a world-wide interest in Yoga at present and it is growing day by day. Almost every country has a few Yoga centres run by enthusiastic individuals following different methods of Yoga taught to them by their teachers or learnt by them through books. This interest is especially noticeable among the youth of the developed countries and in some educational systems of these countries Yoga is finding a place in some form or the other. In India, education in Yoga is being giyen on traditional lines in certain selected institutions and there are many yoga centres scattered all over the country in imparting instructions in Yoga to the interested individuals. There are also certain school and school systems where Yoga is taught in some form or the other There are many Gurukulas in India which are imparting Yoga education in systematic manner. It is thus high time now to do systematic thinking about giving Yoga a place in the overall educational system in our country. In a democratic set up like ours, there is a great need for the development of mass Yogic practices in Indian youth from the physical, mental intellectual and spiritual points of views and thus deserves the support of Govt. for inclusion Yoga in the National Education Policy and its implication effectively.

There is a world - wide interest in yoga at present and it is growing dey by day. Almost every country has a few yoga centres run by enthusiastic individuals following different methods of yoga taught to them by their teachers or learnt by them through books. This interest is especially noticeable among the youth of the developed countries and in some educational systems of these countries yoga in some form or other finding a place, In India education in yoga is being given on traditional lines in certain selected institutions and there are many yoga centres scattered all over the country in imparting instruction in yoga to the interested individuals. There are also certain schools and school systems where yoga is taught in some form of the other. There are many Gurukulas in india which are imparting yoga education in a systematic manner.

There is a growing conciousness among Indian educationists, including Principals and teachers in schools to give a different and better type of education to our children and many of them have shown interest in learning and teaching Yoga. It is thus high time now to do systematic thinking about giving yoga a place in the overall educational system in our cauntry. In a democratic set up like ours, there is a great need for the development of mass physical education, sports and mass yogic practices, for better health and fitness.

Yogic practices which constitute : Asanas, Pranayamas, Kriyas Bandhas and Mudras, Dhyana etc. can help one to achieve and realise physical toning, emotional stability and intellectual firmness. For correct health habits Yamas (moral restraints) and Niyamas (ethical observances) are given foremost importance. For general health and fitness, muscular work should be physiologically and higieni cally on the right kind. Asanas can very well serve this

purpose Pranayama leads to tranquilisation and consequently to the removal of the psycho-physiological disturbance. Kriyas lead to the removal of lethargy and efficient detoxication and proper toning up of internal or ANS which is so essential fo: efficient and vigorous life. Bandhas and Mudras help in bringing ateddiness and stability in body and mind by tackling voluntary and involuntary musculature.

The concept of total well-being lies in the maintenance of good health habits, dieting, physical and emotional balance. Spritual well being. is also a factor in total well beihg The philosophy is to live a life that is happy healthy and productive and yogic practices certainly will be able to fulfill these objectives. The following are some of plus points of yogic practices.

1— It requires not much finance.

2— No standard equipments needed.

3— Not much space is required.

4— Individualistic in nature.

5— Not competitive in nature.

6— Not repetitve.

7— Can be prescribed for all ages irrespective of cast, colour and Creed.

8 – Not much time being consumed.

9— Can be practised at home or outside.

10- Can be used as preventive as well as curative meaure against certain disease.

The development of one's physical potential is as the development of mind and spirit As a progressive, democratic country, we should provide ample opportunity for dynamic expression of personality through physical education, sports and yogic practice. To

achieve this, a broad based programme must be provided at various stages of life. Physical education, sports and yogic practices should form an integral part of education in the development of man and wemen in our country and the priority in the plan should be given to development and implimentation of physical education, sports and yogic practices in the rural areas The people assembly and the council of ministers, central education sports and Health Ministers, State Secretiate for physical education and sports, sports federations. Trade Union and Cultural organisations should work close together in order to assure this movement

One is reminded in this context of the strong recommendation of the Education policies that besides education in natural and social sciences, there should be given proper education in spiritual values so that our students develop a balanced personality. Education in yoga is the surest way for the development of a harmonious personality from the physical, mental intellectual and spirtual points of views. Thus any effort in this direction would be in keeping with the declred educational objectives of the Government.

The following points are to be kept in mind while developing a programme of Yoga eduction in our schools:—

1— Yoga should become an integral part of school education rather than remaining an appendix. In other words, the whole atmosphere in schools should be such as to lead to the develoment of yogic values in children.

2— There should be a balance in the teaching of various aspects of yoga-physical, mental, intellectual and spiritual.

3— The programme for yoga education in schools should have a rational and intellectual approach so that all teachers and students can follow it unhesitatingly.

4— Yoga is equally useful for all people without distinction of cast colour creed or nationality. This universal aspect of yoga should be highlighted in the programme.

A well graded syllabus in yoga for various school stages is the first requirement. This has to be done very carefully and systematieally. Roughly speaking, there would be transition from the physical to the spiritual aspects of yoga a student can learn will depend on his aptitude, needs and learning capacity.

When the syllabus is ready the next logical step is to develop instructional material for yoga education This would take the form of a series of textbooks, supplementary reading books, charts, filmstrips and films, Luckily a lot of material is already available in this field which can provide a starting point for the development of further instructional aids. Full use will have to be made of the audio-visual facilities of instruction available to us at present.

No scheme of yog education in schools will succeed unless properly trained teachers are available in all schools. This will involve inviting thousands of teachers from all over the country to certain selected centres of yoga education and training them in short-term courses in the philosophy and practice of yoga. Our objective should be to have at least two or three teachers in every school who are properly trained in various aspects of yoga. Initially, it will involve a considerable amount of expenditure but the money invested will be doubly repaid when we have a better generation of students who lead a very constructive life and indulge in the destructive tendencies of present day youth.

To sum up, teaching of yoga at the school level or in the educational institutions opens up vast potentialities of building a new India through the balanced development of the Indian youth from the physical, mental, intellectual and spiritual points of view and thus deserves the support of Govt. for inclusion yoga in the National education policy and its implimentation effectively.

The need of Environmental and value Based Consideration in Modern Education System

Dr. S. Thahaliyal

Education is the end of man's life. It enables him to benefit himself, his parents, his family and his community at large. Life's aspects are multifarious and so the education corresponds to all these aspects. On the whole the man is what his education makes him like. श्रद्धामयोऽय पुरुषो यच्छ: स एव स: So says the gita (xvii3) "Man is of the nature of his faith; what his faith is that verify, he is" Here faith means the residue of his education In the words of Aristotle "Knowledge is that after forgetting all what remains. So is about education. It is conscious process as well as unconscious one.

What should be the aim of child's education so as to make him have good faith and what should be the means of imparting such a noble education ? The answer is : the child should be educated in an environment where the value of good education prevails.

There are educationists who argue that we can create an ideal environment of our choice only in child education, or at best, upto higher secondary standard, but in case of higher education it is quite an impracticable task. I should like to make them remember the doctrine that heaven lies about us in our infancy Child can be moulded as per our wish in his school days. Once he is moulded he is sure to follow his line as a vehicle moves automatically into a rut.

My topic is :— The need of Environmental values based consideration in Modern Education system I shall deal my topic in the light of gita ideal of education.

The Gita Ideal cf Education— Though the gita, among many other problems to deal has but one couplet regarding the education. The couplet goes thus—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ (The Gita 4-34)

The couplet literally means : Know this : by long prostration, by enquiry by service. Those men of wisdom who have realized the truth will teach the wisdom in the commentary of Shankaracharya on the gita, the couplet is eleborated thus : know then by what process it is obtained, go to the teachers (Acharayas) and humbly prostrate thyself before them. Ask them what is the cause of bondage (bundha) and what the means of eletiberance; what is wisdom (Vidya) and what nescence (Avidya). Do service to the guru. Woo over by these and other marks of respect, the teacher who, knowing the truth as well as realising it themselves, will impart to their wisdom, that wisdom which has been described above. Some only but not all, know as well as realise the truth - By this the lord (Sri-Krishna) means to say that - that knowledge alone which is imparted by those who have reaized the truth - and no other knowledge can prove effective.

There are three presuppositions or postulates of value based education according to the gita, namely:—

1) The total submission of the whole being on the part of the student (प्रणिपात)

2) The intant or Keenness for gaining knowledge the dialectic of questioning and answering. (परिप्रश्न)

3) To build up one's mason of knowledge bit by bit from the materials he gets from the teacher.

I shall discuss all these three ideals of the gita teaching in the context of present educational system.

प्रणिपात or the total submission to the Guru broadly means the towering supremacy of the teacher and utter humbleness on he part of the student The ideal can be fortified by creating such an environment where these two things exist. In our usage the student is called a vidyarthi, the seeker after the learning. He is the receiver and the teacher is the giver of learning. In this the teacher is the in the classroom and the student a passive hearer. Although such an arrangement may be a far - fetched ideal but it must be an apporoximation, an approximate at least in the words of Dr. Radhakrishnan as:—

Remember that the greatest instrument of all education is the educator, the teacher gives him a fair deal, make him feel free from all his worries, give him freedom and detachment necessary to pursue his avocations It is only then you will be creating an environment where good teachers are made."

This ideal relation of the teacher and the taught presupposes an environment congenial enough to promote the good education. Such a relation is possible only with in the spiritual plan and not with in the material set up of the society. This is the materialistic set up of the society which is responsible for such a lowest nether of educational system in our time, 'Matter devides and the spirit unites the heart' should be the motto. The spiritual relation between the teacher and taught is indicated in the gita ideal of prunipal or prostration on the part of the student before his educator which I have referred to as the submission of the taught's whole being to the teacher.

Though things have gone far a head to be recapitulated in modern time but a tentative approach to reinstate the past is necessary. There is no other way than this नान्य: पन्था: विद्यतेऽयनाय, so says the vedas we should be Prepared to mend the texture of educational systems torn out by the age, if we are to improve the present for a better tomorrow. To this end we can bring out the following changes—

1— The hostel system suffers an utter neglect on the part of the agents running the educational in stitution The hostel system should be intrusted to the hands of competent authorities, This is only then the age old ideals as:—

ॐ सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै

Meaning :— Let us protect each other together, let us dine together let us put our strength together to a pious and beneficial cause. May our learning be vital and worth while and let us not to envirous one - another

In this all those ideals of nation building are pragnant about which we raise mouthful of ineffective slogans.

2— We should reconsider our meaning of secular. The education should be given a cultural footing, a culture which is compact by the alchemy of growth, which is seasoned and past the possibility of decay, a synthesis elements of different culture, the Indian culture. The craze for western culture should not go beyond remedy.

3. The gandhian ideal of Ashram life is to be practised in hostel life. This would strengthen the feelings of simple living and high thinking, fraternity, swadeshi or love of indigenons things which is sure to lead the students to a feeling of India as the embodiment of the ideals enshrined into our heart.

4— The idea of change should take its holiday - Today we become intent on a philosophy of change and change but alone. We under the pretext of adjustment to the changing circumstances, have been unstable and irresolute. But this change is man-made. It can be hardly denied that change inevitable, but it should be according to the natural way and to that extent change is acceptable. A rolling stone gets no moss, so goes the saying, so we are not to achieve anything by changing every time. So such this idea of change, this should take its holiday. Then alone, something substantive can be attained our students and men holding the helm of affair are eroding the values of education by such a wrong policy of change

The ideology of change is eating into the vitality of a corgenial environment for a value - based educational set up

5— There are institutions no doubt. which tend to mould their toughts to any shape and style, I mean public schools privately run. They provide an environment for their taughts to develop them in the line they choose, but they prepare children into the line of elite, or rather for a special group of aristocratic life, who, later in life. have hardly any touch with their less fortunate brethren and consequently become wishful apathetic to the conditions prevailing in their surroundings. A national education should be the ideal of our society.

6— The policy of reservation in services is playing a havoc in an overall natinonal life in our time It is consciously or unconsciously proving anagonistic to the ideal of fellow - feelings and national solidarity. The policy mars the sound health of the unified national oljectives. It has a sort of slow poisoning effect in our future generation and above all, is not conducive

to create a healthy environment of value - based educational System.

Too much specialization in tha subjects taught in higher level is thwarting the idea of a common platform in education. On the contrary, it is making the gap wider and wider between individual and individual. The result is that disharmony among the youth set in, due course. It exalts some to the apex and others to the nether of national scale.

These are but a few suggestions being given by way of promoting a value - based educational environment. We can only create an environment and the values of education will be created of its own accord.

Next I look forward to the teacher to be of some help to create the environment of our aspirations. Let us remember that we can make the pupil but we can not unmake the teacher. A strict & scrutinizing policy is to be adopted for the racruitment of the teacher. In this procedure the educational excellence of the teacher is to be taken in account, but he should also temperamentally and morally be serened before being appointed. In the standard of the gita they should not only be ज्ञानिन: or men of learning but also be तत्त्वदर्शिन: or philosopher the magnanimous one so to speak the Aristotelian term Then alone value based environmental set up in the field of education.

· Above all an open campus far from the madding crowd is the first necessery for an ideal environment.

Next comes the doctrine of परिप्रश्नेन, or the inquisitive side of education. There should be an environment of perfect concord whether the student could put forth his difficulty by way of

questioning before the teacher to shed furthere enlightenment on the topic his student has ill grasp The practice of putting questions before the teacher is unfortunately diminishing with the evasion of time. It need be

The third doctrine is सेवया or the service of the teacher सेवया also means thar the truth learnt must be swallowed straight way, The term सेवया or by service, we may take to mean a fair deal with the teacher and that's all given these three conditions of प्रणिपात, परिप्रश्न and सेवया we shall be developing a congenial environment where education can be imparted convently and amicably that is what the gita ensures by declaring :— उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन: तत्त्वदर्शिन: Than alone the men of knowledge and men of wisdom that is, the teacher will find himself in a congenial atmosphere to give the best from within himself.

Last not least the value- base environment for education needs above all the simplicity in ones way of living where there is simple living there dwells high thinking. Ostentatious living or dealing quite undesirable for a value-based educational environment. Much of our ills in modern time education have crept in our educational system due to ostensible ways of living. It is tending cleterioration of educational values. This needs change in our present considerations for the better Ostensibility is to be shunned by both—the teacher and the taught. Then alone we shall be creating an improved environment in which values of a good education are enthroned.

Values in Education

Dr. U.S. Bist

Our knowledge of facts or our definite awareness of facts which injuncts or prompts us to action, for the satisfaction of our desire i.e. the achievement of some end, can be understood as a 'value.'

In other words, the objects of our liking (इष्ट) which is desired and a particular activity is undertaken to realise it, is a value. The value is not usually existent (available) but has to be brought into existence, by delibrate efforts (साधना) unlike facts, values are not given (सिद्ध). The existent objects, serve as a means to the values i.e the cognition of facts leads, to the realisation of values.

A value is always associated with a feeling of pleasure The past experience works as an immediate cause (करण) for our desire for the realisation of a particular value. Hence, it can be stated that a 'value is that which having been experienced in the past by the agent himself or by some body else, attracting the agent again for a particular course of action, for it's realisation, again. I put it like this, a value is that object of desire, which is grounded in feeling and (जानाति, इच्छति, यत् ते) is a subject matter of will. (कृति साध्य)

Thus, first, we have an idea of a value tinged with a feeling of pleasure. Second, we have a desire for it. Third, we are prompted for action. Fourth, the appropriate activity (साधना) and Finally, the realisation of the value. But the important point to be noted here, is this that a value can be both -) the end in its and) the means to an end. (इष्ट-साधना).

Here comes an important question:— Whether the values are intrinsic or extrinsic ? The possible answer to this question, to my mind, may be, that the value taken as an end in itself is the intrinsic one and the value which is only instrumental will be extrinsic.

But again, a question arises i.e. whether a value is objective, or subjective When one says objective, it means the value exists out in the world of nature. In other words value exists just outside the mind If one says that value is subjective, then, he means, value belongs wholly to the relm of mind. But to my mind, values are both objective as well as subjective i e. values are the products of the interaction between a person and the environmental situation More clearly, values are supposed to be objective. because the qualities of an object attract our desire. Similarly, the values are supposed to the subjective to the extent that they are personal Judgements with a pronounced emotional tone. But my mind, a value is both objective and subjective i e. relational, because, it is a relationship between a person and an environmental situation which evokes an appreciative responce in the individual, or in the society. I am using the word society Just because values are of different kinds. Such as physical or bodily values, economic values social values, asthetic values, neligious values, spiritual values, higher values anb lower values etc.

I think, whenever, we have a choice among values we should choose the creator ought i e. the intrinsic values because there values have worth in their own right i.e. intrinsic values is an end in itself. The extrinsic value, however, has only the instrumental worth.

More precisely, goodness, beauty and truth etc. will be the intrinsic values for those, who would regard money, automobiles

etc. as having only extrinsic values. In my opinion, intrinsic and extrinsic values are not always either mutually exclusive or fixed. Because, one and the same value may be regarded as Intrinsic by another. The work of art and drama etc. can be the examples in support of this opinion.

To my mind, under the changing social conditions, the values may vary from time to time. These days, cooperativeness i.e. will ingness to share and to work with others, willingness to follow suggestions and directions, to help others with their problems and to abide by group discussions can also be the values. Similarly, tolerance, open-mind-ness, reliability and willingness to accept responsibility can be kept under the category of values but with a note that values are ought to be realised.

In short it can be said that whatever is the means of satisfying any of the needs felt by man. is an instrumental values. The number of such values may be infinite. From the Indian philosophy's stand point all such values have been kept under the category of (wealth) (अर्थ) and pleasure (काम).

Wealth (अर्थ) and pleasure (काम) can be named as empirical values These values are, what man is naturally inclined to seek.

Dharma and moksa can be called the spiritual values. These are the values which a man ought to seek These two values are also named as higher jalues. Keeping in view the time limit, and also that I have to say something about the values in education; I am not discussing the spiritual values in this paper, right now. May be I shall do so some other time But I am confident in mentioning that many of the instrumental values may not lead us to the desired end. And also, what was fruitful once, may be in the care cf X,

may not be fruitful at another time or in the care of 'Y.' The instrumental values are precarious अनैकान्तिक where-as the intrinsic values are unstable (अनात्यन्तिक). The spiritual values viz Dharma and Maksa are, however, not vitiated by such defects and hence man ought to seek these.

The other part of this paper has been devoted to a discussion on 'the need of environmental and value based consideration in Modern Education system. Now for the sake of clear understanding I shall try to discuss this problem under the head "The curriculum and value.

Curriculum is 'a course of study.' It describes the ground which the teachers and the students cover to reach the goals or objectives in lives. The different courses, here, in curriculum are prescribed for different students and thus for achieving different goals These goals aims, or final achievements can be called values. The curriculum should be a composition of the true, good and the beautiful because it is a means to some end (value). The curriculum have become the instrumental value. We should remember that a value is a 'to be' 'which is not yet.' Since values are thus of future, we can not talk of their present existent. Thus value is that ideal fact object content of desire which is prized or appreciated by us. We should be very clear here on the point that fact is an object known by us directly, and leads us to the realisation of a value. So fact is not the same as value. More clrealy, a fact is given and is to be apprehended whereas a value is appreciated and requires to be achieved.

I have stated above that the curriculum should be composed of the true, good and beautiful. The educators or the planners of curriculum should first consider the nature of knowledge, nature of good and the nature of beautiful before reading material is made available to the schools or the institutions of higher learning. It is recessary to consider certain preliminaries psychological or logical relating to knowledge is general, before. any such thing like curriculum is prepared. Similarly ethical and aesthetical valuation is also necessary at the time of prescribing a particular curriculum. What type of environment will be there during the course of teaching and learning that particular curriculum should also be considered. In other words, the planners must also enquire into the nature of possible values (facts) and ideals which rule the curriculum The possibility of the hierarchy of values should also be taken care cf. So also with the category of beautiful, we must inquire into the scope of aesthetics. Since it will also have a marked bearing on what is to be included in the curriculum.

I have discussed the nature of value in the beginning of this paper. Keeping that in view, I suggest that the Modern Education system should be viewed from the angle of value. Though, it will be primary to view the Modern education system from the angle of knowledge But the first i.e the angle of value is relevant where as this paper is concerned.

In ancient times, particularly in India. when the education was being imparted in different ashramas and gurukuls, all knowledge (समग्र ज्ञान) was considered to be the province of the curriculum. But in the modern times, keeping in view the fixed years of schooling or university education, there is not time enough to prescribe 'all knowledge' as the province of the curriculum.

Hence, we need a criterian to teach not only what knowledge is good but what knowledge is better and best to save time by establishing priorities. But for, establishing priorities, we have to answer whether values inhere in the curriculum independently of the valuer or they find iheir origin in a valuing organism or are relational.

Some philosophers take the view, as I have indicated while dealing with the nature of values that values are internal and subjective i e. values are inherent in the mind of a teacher or the taught is in the present context. Because for the subjectivists, values are biological and psychological in origin More clearly, the subjectivists are of the opinion that values have no basis outside the mind of the teacher and tought i e. the agency which prize them. A value like beauty, is only in the eye of the beholder. Because it is only thinking which makes anything beautiful. Similarly, the text books, curriculums, laboratories are only valuables, since they do not posseess the intrinsic or in herent values. These are thus, capable of being valued only In ascribing value to any of them, the planner, student or the teacher, is projecting his feelings into them The point here is, the environment is educationaly neither worthly nor worthless, unless the agents i.e. the teacher or the students are involved.

There are other philosophers, who opine that since, values are objective they reside in the object i.e. the curriculum in the present case.

They strictly object to the view that values are Just the private inner experiences. They hold that there is an antology of values as of other objects. Since every thing, if at all that is a thing, has

to have some form or purpose. For example, the skilled artician only reveals the value from the material given, in the form of this and that. Here, it is important to note that these objectivists do not deny the important role i e. the desire of a teacher or a student but they do claim that the value inherent in the curriculum is independent of desire. They advocate, not problem, if the agent does not desire, the value will remain with the object.

But to me as I have already stated, a value is both subjective as well as objective i e value is relational. A value may come into existent, if and only if. There is an interaction between the mind of a teacher or student on the one hand and the curriculum on the other. Proper eductional environment is also necessory here. This is important here to point out that the nature of the interaction is well brought out by the word 'interest'. Etymologically. 'interest' means 'to be between' and carries the conotation that it is a value relation which lies between the teachor or student and the curriculum or the education system in a suitable eductional environment

We should, therefore, remember. that 'if a student is interested in studying painting, he should be given opportunity to seek admission to fine-Arts. He should not be compelled to choose the subjects of his non-taste If we can do it, we will find that the particular, student, one day shall meet his desired goal which will be a value for him.

The planners of curriculum should also take a serious note that in the absence of equality of educational environment, their prescribed curriculum shall not because a value. Nominal equality

will not do here. Equality means, as we all know, is making certain that each individual of the humanity, receives a suitable education in a similar environmental situations, at a pace and through methods adopted to suit particular person, so that each one may run the race on an equal footing without handicap born out of family backgrounds. social conditions and extra curricular forces. Thus, education system should provide strong basis for lifting education like a big play-ground or cafeteria, where each one can play what he wants, or each one can take or eat what he wants instead of playing the same rigid game or taking the same sour or remaining food in a small field or dirty dhaba.

References : 1. The pursuit of wisdom. — A. Kaplmy

2. Indian conception of values — Hiriyanna

3. Ethics for today — Hiriyanna

4r Scruptural depths of Indian Philosophy — P.T. Raju

Environment in Ancient Scriptures

Dr. Suresh Pandey
Vishnu Garden, Hardwar

During the first quarter of 9th century A D., Dharma Pala, the Budhist King of Pala empire, built a Vihara ..—monastery which was named the Royal University of Vikramshila. The erudite scholars of this university fostered moral and educational bonds between India and foreign countries and inspired not only the people of this country but even beyond the political and geographical out-posts distinguishing in spiritual outlook. It is a pleasant coincidence that the g'orious Gurukul Kangri University with its most erudite professors and philosophers now under the able and foresighted guidance of Kulpati Shri Dharma Palaji are doing this sacred dutv.

The aim of true gurus was not to push through a creed or a doctrine, but simply to restore the priority of the Self and the principle called Absolute, instinctively always present and later intuitively known, so that man becomes free and knows the kind of universe he lives in, so that he remains free and happy, and is no longer bound by the ups and downs, the joys and sorrows inescapably arising out of the fact of being tethered to a part of the whole called the human body and personality As the absolute guru Krishna in the Bhagwad Gita tells Arjun at the end of this Guru-Shishya samvada or dialouge between a Guru and a seeker of wisdom declares (XVIII-63) "Thus has wisdom more secret than all that is secret been declared to you by Me; (critically) scrutinizing all, omitting nothing, do as you like."

The excavations at Taxila, Nalanda and Vikramshila reveal about the ecological and architectural arrangements made by the

planners who were influenced by and had adopted Vedic system and moral values in their educational system These universities had a rigid pre-entrance test for the knowledge seekers. Taranath refers that Vikramshila university had six gates guarded by the most erudite scholars called the "Dwar Pandits" These Pandits took severe tests of those desired admission in the University. There was a Board of eminent Professors whose main function was to supervise and issue instructions to various teahcers It is said that there were 160 teachers and over 1,000 students, many from foreign countries, residing at Vikramshila university during the rule of Rama Pala Nag-tcho, a Tibetan scholar who attended one of its magnanimous convocations during the rule of Mahi Pala in circa 900, observed that its six gates opened into six colleges enclosing a large open space to accomodate a congregation as large as 8,000. Besides chambers for students and professors, provision was made for drinking water, toilets, dining hall, prayer hall, class-rooms etc. in a planned manner according to scriptures.

The excavations at Modhera in Gujrat and Harppa and Mohen-jodaro reveal much more about the education imparted to students who later became Vedic environmentalist - architects planning these cities ecologically balanced It proves that Vedic students learned hydrography, geology, town-planning, architecture, civil-engineering, agriculture, horticulture, floriculture, preservation of food and dairy products, animal husbandry, forestry, botany, etc. besides philosophy, economics, political science, military science etc It appears that during preparatory years the foundation course included imparting thorough knowledge of all the subjects leading to higher and advanced learning in the specialised subjects which further led them to applied course. These wisdom seekers or students

had a high degree of devotion and dedication towards their Guru who have been deified. 'Guru Sakshat Parambrahma" etc. And at dawn and dusk these knowledge seekers with their Gurus chanted in unison Hymns from scriptures. The cosmic vibrations emerging from the very depth of universe in spiritual music helped in meditation and healing diseases. The Rgveda expounds at length. the efficacy of the Hymns of Rgvidhana especially their power of healing. Hearing continuously and regularly these hymns have a soothing effect on brain which paves way slowly to ease tension on the tiny nerves emanating from the brain to eyes, throat and other parts of body Music was considered as 'up-Veda' (Gandharva Veda)

The culture area is a construct of behavioural uniformities which occur within an area of environmental uniformities. It is assumed that cultural and natural areas are generally co-terminus because the culture represents adjustments to the particular environment The importance of environment in shaping human culture is now increasingly being recognised by archaeologists and the ecological paradigm plays a dominant part in the study of past human societies.

To re-construct the environment in Ancient India, we have to keep foremost in our mind the values enunciated in our Vedici Aupnishdic, Brahman and Sanskrit literature. These values are relevant even in this modern age and would remain as such for the coming times.

Whereas no other civilization of the world, with an antiquity of about ten thousand years, if at all, has left for the posterity any written book or document, the Indian culture has proudly done it in the form of composition of Reveda whose wtext is still infact

today. On the basis of the historical tradition, we can admit that the Rgveda, the foremost among the four Vedic Samhitas, is the oldest literary composition, now available not only for the Indian people but also for the people of the world

The Vedas exihibit a free expression of ideas of a free society with the sole purpose of mundane, intellectual and, to a large extent, spiritual development of the society as a whole, The Samhitas are a collection of eulogies and prayers bestowed upon various deities who are nothing but different names given to 'brahman' i.e , this 'brahat', all pervading universe or what we call god. The infinite universe is meant for the man on the earth and therefore all the eulogies and prayers offered to different deities seek blessings for man. 'Svasti na indra vrdhhasravah'. 'jivem sardah satam', 'aksirma divyah krsimit krsava', saha navavtu sahnau bhunaktut', etc. These and other such innumerable expressions are testimony about. the welfare of society as a whole. As a matter of fact, the basic concept of 'yajna,' too, is the ritualistic expression of the social being.

The cultural ecology can be traced in India to Pre-Historic finds unearthed and discovered in different parts of the country by the archaeologists. The later Neolithic and Iron Age people were well acquainted with a number of plants. Indus Valley and Vedic people know a quite lot about the general life history of plants useful for them, particularly their successful cultivation and propagation. Agriculture became holy at this period. Vedic people practised medicine, laid out gardens and consecrated them for public use.

In Vedic literature we find a large number of terms used in the description of plants and plant parts, both external and internal

structures; a definite attempt at classification of plants and evidence that manuring and rotation of crops were practised. Plants were called 'Divine Mother of Mankind' as Rgveda refers in Hymn X, 97, 4. Vedic seers deified not only plants but also cattles eg. 'Ashwa', 'Vrishav', 'Aj', 'Avi', :Harin 'etc.' and birds like 'hans', 'Shyen', 'Vayas' etc. The morpho-semantic etymologies of various such epithets used in Vedic litarature prove emphasis on the dynamic interactions between Vadic people and their environment. Eulogies and epithets seek blessings from Savita, Vayu, Indra, Brahaspati, Maruta, Surya, Prthivi, etc, for external prosperity and internal peace of mankind. These eulogies and prayers formed an essential part of daily rituals in Ashrams of seers where brahmacharin - students alongwith their teachers chanted in unison. 'Prthvi shantih...— apah shantih...— vanaspatayeh shanti ... aushchayah shatih' etc.

The evidence of plants and animals excavated by the archaeologists have proved that bogining of the agriculture was made as early as 6000 B.C. in India. The Mehrgarh, now in Blochistan province of Pakistan, excavations prove that farmers cultivated besides emmer, eincorn and two-row barley. Considering the recent evidence of irrigation during the Harappan times, it has to be conceded that Harappan agriculture was largely responsible for the civilization. It appears that the Harappans probably invented and perfected the well-digging technolcgy, and although wells were dug primarily for drinking water in cities, there is evidence to show they were also dug and used for irrigation. French archaeologists have recently identified a network of Harappan irrigation system in Haryana in the Vedic Saraswati valley by the study of landsat setellite imagery, where they could trace an 8 km. wide course of the Ghaggar··· the ancient Saraswati river. They have located

small waterways which are almost invisible on the surface. In sum, it is important that the Vedic people employed artificial irrigation and had a knowledge of hydrology, agriculture, plant anatomy. phyisiology taxonomy, classification of plants, flora and fauna, dairy farming and environment

The Vedic environmentalist, if I may call him as such, understood the value of cowdung manure, karisa and sakrt in the nouishment of plants (RV I, 161. 10; AV III, 3,4; XIX, 31,3; Taitt. Sam. VII, 19,3) He also practised rotation of crops by following and by sowing different crops alternately in the same field (Taitt Sam. V.1,7,3) to improve the fertility of the soil.

The Vedic thinkers believed that plants had preceded animals, particularly man. in the scale of arrivals of livings on earth. This is clearly indicated in a Hymn of Rgveda (X 97,1). Yajnavalkya, the author of Brhadaranyaka Upanished gives more details (IV,6.1): he says" Earth is the source of this creation, moveable and immovable; for it supplies them with the constituents of their body; and water again is tha root cause of earth for earth is begotten of water; the essence of water is embodied in plants, such as, grasses, creepers and the rest; flowers represent the essence of plants and the essence of flowers are fruits," etc.

Vedic and post-Vedic thinkers in India placed a high premium on realising development with minimal exploitation of natural resources The sixteen mantras composed in the form of Vrsti-Sukta (AV.4,15) of the Atharveda bring into light a significant feature of of the vedic poetry in as such as they acquaint us with the poet's treatment of nature. The poet opens the Hymn with a passionate desire that the clouds should rise up in all directions; they are

moved to and fro by the strong winds, rcarirg aloud they should pour down upon the earth so that the thirst of the earth is quenched (AV. 4. 15. 1). then the approach of Vedic poet is purely social. He would rarely praise a beautiful object merely for the sake of its beauty the Vedic poet's concept of beauty, on the other hand, is that a beautiful object is that which is also useful for the human beings. The rains, therefore, are beeutiful because they inject rasa (ehergy) into the herbs and plants, the waters of clouds should come down upon the earth in order that they bear so many osadhis. All these herbs, plants and osadhis are useful to human beings, therefore, the rains are the harbinger of prana to all the prajas :

" apamagnistanubhih samridano ya osadhinamadhipa babhuva, sa no varsam tanutam, jatvedah pranam prajabhya amrtam divaspari" (AV. 4. 15. 10).

The Hymns addressed to Agni in Rgveda and Atharvaveda, The Bhumisukta of Atharvaveda particulraly, give an enlightened philosophic view of the environmental studies that the Earth depend for stability on the subtle elements viz., Truth, Order, Sacrifice, Brahma and the like, the Hymns addressed to Usa, Indra, Agni, Savita, etc. contain in themselves the elements of great poetry and moral values whenever the poets of these Hymns pray for well being they pray for the well being of the whole society This was the fundamental philosophy of the integrated eco-development propagated by the vedic seere the values which were later followed by the later thinkers and epic writers. Ramayan, Mahabharat, puranas, Upanishads and the like praised and deified our mountain systems, river systems and the nature. These scriptures emphasised conservation and production

forestry, for the ecological maintenance. The archaeological evidence from various rock and pillar edicts of Ashcka prove that conservation of environment was given a serious thought providing stringent punishment for violation of rules made for conservation of nature. Agro-forestry was practised on a sustainable basis relieving pressure on natural forests and thereby help in wildlife conservation,

We live in surroundings most conductive in linking science and spirituality and achieving both professional and spiritual fulfilment in life. The beautiful trees, rivers and mountains, sun and moon, flora & fauna,wind and water are earthly manifestations of god's heavenly blessings. old scriptutes always kept in mind that their ultimate objective is the better promotion of a better quality of life for all. There is a growing need for ensuring the ecological security conservation of nature and natural resources, for the welfare of the mankind and the universe, and for this we have to follow the values enunciated in our ancient scriptures.

★